प्रकाशकीय

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के सम्यक्त्वपराक्रम नामक २९वे अध्ययन के ७३ बोलो पर पूज्य आचार्य श्री श्री १००८ श्री जवाहरलाल जी म सा के प्रवचनो मे से पहले भाग मे प्रथम चार बोलो के प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं । इस किरण मे पाचवे से लेकर बीसवें बोल तक के प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं ।

पूज्य आचार्य श्री जी म. सा. ने आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान मे सहकारी सिद्धान्तो का विवेचन और जीवन-स्पर्शी समस्याओ का समाधान बहुत ही सरल और सुबोध भाषा मे किया है । इसीलिये समय के बदल जाने पर भी आचार्य श्री जी के प्रवचनो की नूतनता आज भी जन-साधारण को अपनी ही बात मालूम पडती है । इसीलिये जवाहर किरणावली के रूप मे प्रकाशित आचार्य श्री जी के प्रवचन-साहित्य को पढने का इच्छुक पाठको का एक बहुत बडा समूह है । उनकी प्रेरणा और आकाक्षा को ध्यान मे रखते हुए सम्यक्त्वपराक्रम-द्वितीय भाग के रूप मे यह नौवी किरण का द्वितीय सस्करण प्रकाशित किया गया है ।

आशा है पाठको की आकाक्षापूर्ति के लिये हमारे द्वारा किये जाने वाले प्रयासो की सराहना की जायेगी । अभी तक अनेक अनुपलब्ध किरणावलिया पुन प्रकाशित हो चुकी हैं और शेष रही हुई किरणें भी सुविधानुसार यथाशीघ्र प्रकाशित की जायेगी ।

यद्यपि आजकल कागज, छपाई आदि का खर्च काफी बढ गया है और दिनोदिन बढते जाने की संभावना है। लेकिन समिति अपनी निर्धारित नीति के अनुसार साहित्य-प्रकाशन का कार्य कर रही है।

सम्यक्त्वपराक्रम के शेष तीन, चार और पांच यह तीन भाग यथा-शीघ्र प्रकाशित हो रहे हैं।

प्रकाशन कार्य में श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और उसके द्वारा संचालित जैन आर्ट प्रेस का समिति को पूरा सहयोग रहता है। एतदर्थ समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं।

निवेदक

चंपालाल बांठिया

मंत्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

भीनासर (बीकानेर-राजस्थान)

—: विषयसूची :—

पाचवा बोल— आलोचना	...	१
छठा बोल – आत्मनिन्दा	..	४१
सातवाँ बोल— गर्हा	..	६८
आठवाँ बोल— सामायिक	...	९३
नवा बोल – चतुर्विशतिस्तव	...	१०४
दसवा बोल— वन्दना	...	११५
ग्यारहवा बोल प्रतिक्रमण	...	१३४
बारहवा बोल – कायोत्सर्ग	.	१५७
तेरहवा बोल— प्रत्याख्यान	...	१६७
चौदहवां बोल स्तव-स्तुतिमगल	...	१८१
पन्द्रहवां बोल – कालप्रतिलेखन	...	२०३
सोलहवा बोल – प्रायश्चित्त	...	२१२
सत्तरहवां बोल— क्षमापणा	...	२२२
अठारहवा बोल – स्वाध्याय	...	२३७
उन्नीसवा बोल— वाचना	...	२४७
बीसवां बोल— प्रतिपृच्छना	...	२५६

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकुंवर बाई मालू बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिये प्रदत्त धनराशि से यह द्वितीय सस्करण का प्रकाशन हुआ है। सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

— मन्त्री

सम्यक्त्वपराक्रम

द्वितीय भाग

पांचवां बोल

आलोचना

संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा और गुरुसहधर्मीसेवा का विवेचन किया जा चुका है। अब पाँचवे बोल पर विचार किया जाता है। भगवान् से प्रश्न किया गया है.—

मूल पाठ

प्रश्न—आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— आलोयणाए णं मायानियाणमिच्छादरिसण-सल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणत अणंतससारबंधणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं च जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसगवेय च न बंधइ, पुव्वबद्ध च णं निज्जरेइ ॥५॥

शब्दार्थ

प्रश्न— हे भगवन् ! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर – (गुरु के समक्ष) आलोचना करने से मोक्ष-मार्ग मे विघ्न डालने वाले और अनन्त ससार की वृद्धि करने वाले माया, मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीन शल्यों को जीव हृदय से बाहर निकाल फेंकता है । इस कारण जीव का हृदय निष्कपट-सरल बन जाता है। आत्मा कपट-रहित बन कर स्त्रीवेद और नपुंसक वेद का बन्ध नही करता । अगर इस वेद का बंध हो चुका हो तो निर्जरा

हो जाती है। अतएव आलोचना करने मे कभी प्रमाद नही करना चाहिए।

व्याख्यान

आलोचना से होने वाले लाभो पर विचार करने से पहले इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि आलोचना का अधिकारी कौन है? और आलोचना का अर्थ क्या है ?

विनयवान् ही आलोचना का पात्र है, क्योकि विनम्र बने बिना आलोचना का बोधपाठ जीवन मे उतारा नही जा सकता। विनयसमाधि आलोचना की भूमिका है । शास्त्र मे विनय समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है –

चउविहा खलु विणयसमाही भवइ, तं जहा-अणुसासयंतो सुस्सूसइ, सम्मं च पडिवज्जइ, वयमाराहयइ, न य भवइ, अत्त संपगाहिए।

उल्लिखित सूत्र मे आई हुई विनय समाधि की चार बाते जीवन मे अपनाने से ही आलोचना की भूमिका तैयार होती है। विनयसमाधि की चार बातो मे से पहली बात यह है कि गुरु का अनुशासन मानना चाहिए अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक गुरु की शिक्षा श्रवण करना चाहिये। दूसरी बात है गुरु की शिक्षा को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करना। तीसरी बात– शास्त्र और गुरु के वचनो की पूर्ण आराधना करना और चौथी बात– निरभिमानी होना। जिस व्यक्ति मे विनयसमाधि की यह चार बाते पाई जाती है, वही व्यक्ति आलोचना करने के योग्य बन सकता है। और जो विनयशील होता है, उसमे इन चार बातो का होना स्वाभाविक ही है।

अब यह देखना चाहिए कि आलोचना किसे कहते हैं? आलचना का अर्थ करते हुए कहा गया है -

आ- सामस्त्येन स्वागताऽकरणीयस्य वागादियोग त्रयेग गुरोः पुरो भावशुद्धया प्रकटनमालोचना।

'आलोचना' शब्द आ+लोचना इन दो शब्दो के सयोग से बना है। 'आ' उपसर्ग है और 'लोचना' 'लोचृ-दर्शने' धातु से बना है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ है पूर्ण रूप से, और लोचना का अर्थ है किसी कार्य को विचार-पूर्वक प्रकट करना। इस प्रकार आलोचना शब्द का सामान्य अर्थ है- मोह के कारण जो अकरणीय कार्य हो गये हों, उनके लिए बिना किसी के दबाब के, भावशुद्धि को दृष्टि मे रखकर गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक प्रकट कर देना अर्थात्, मन, वचन और काय से जो अकृत्य कार्य किया हो, उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देना।

'आलोचना' शब्द के विषय में शास्त्रो मे बहुत विचार और ऊहापोह किया गया है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'आलोचना' इस पद मे 'आ' उपसर्ग है और लोचना शब्द 'लोचृ दर्शने' धातु से बना है। धातु के अनेक अर्थ होते हैं, इस कथन के अनुसार 'लोचृ दर्शने' धातु के भी अनेक अर्थ हो सकते है। श्री आचारांगसूत्र मे कहा है कि बहुत-से गृहस्थ, साधुओ को भ्रष्ट करना चाहते हैं और इसलिए कहते है—'आपको ठड सता रही है। लीजिए हम अग्नि जलाते हैं। तो हे साधु! ऐसे समय पर तू आलोचना कर अर्थात् विचार कर। इस कथन के अनुसार आलोचना का एक अर्थ विचार करना भी होता है। इसी तरह अनेक स्थलो पर शास्त्रो में 'आलोचना' शब्द विचार

के अर्थ मे प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ-किसी साधु से कहा- अमुक वस्तु अभी तैयार नही है। अत आप अमुक समय पर पधारिये।' तो ऐसे अवसर पर शास्त्र कहता है कि हे साधु! आलोचना कर अर्थात् विचार कर और गृहस्थ से कह दे कि साधु के लिए किसी प्रकार की तैयारी न करो। साधु के लिए ही तैयार की हुई वस्तु साधु को कल्पती नही है।

इस प्रकार आलोचना के अनेक अर्थ होते हैं। आलोचना के अनेक अर्थों के सबध मे जब बहुत दिनो तक विचार किया जाय तभी यह विषय भलीभाति स्पष्ट हो सकता है। मगर अभी इतना समय नही है। अत सक्षेप मे इतना ही कहता हू कि 'लोचृ दर्शने' धातु से 'लोचना' शब्द बना है और उससे पहले 'आ' उपसर्ग लगा देने से 'आलोचना' शब्द निष्पन्न हो जाता है। मोह के कारण हुए अकृत्य कार्यों को, भाव शुद्धि के लिए मर्यादापूर्वक प्रकट करना आलोचना का अर्थ है।

यहा यह प्रश्न किया जा सकता है कि आलोचना के अर्थ मे 'अकृत्य' क्यो घुसेड दिया जाता? ऐसा क्यो नही कहा जाता कि जो कुछ भी किया गया है उसे गुरु के समक्ष प्रकट कर देना आलोचना है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जहा गिरने का भय होता है वही सावधानी रखने की आवश्यकता होती है। पुलिस की व्यवस्था चोरो से रक्षा करने के लिए ही है। अस्पताल भी रोगियो के रोग निवारण के लिए ही खोले जाते हैं और वैद्य के समक्ष रोग प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार जहा गिरने या बिगड जाने का भय रहता है, वही सावधानी रखने के लिए कहा

जाता है। इस कथनानुमार गुरू के समक्ष भी उन्ही कार्यों को प्रकट किया जाता है, जिन्हे करना उचित न हो किन्तु कर डाला हो। सुकृत्य तो सुकृत्य है ही। सुकृत्य, दुष्कृत्य नही बन सकता। अतएव सुकृत्य यदि गुरु के समक्ष प्रकट न किये जाएँ तो कोई हानि नही। मगर दुष्कृत्य प्रकट न करने से हानि अवश्यभावी है इसी कारण अपने दुष्कृत्य गुरु के सामने प्रकाशित कर देना आवश्यक है।

सवत्सरी आ रही है। जैसे दीपावली के अवसर पर आप अपने घर का कूडा-कचरा झाड-बुहार कर बाहर फेंक देते है, उसी प्रकार सवत्सरी के शुभ अवसर पर आपको अपने हृदय का कचरा निकाल फेंकना चाहिए। भीतर जो पाप घुसा हो उसे बाहर निकाल कर पवित्र बन जाओ। यद्यपि सवत्सरी पर्व का मूल उपदेश आत्मा द्वारा हुए पापो को दूर कर देना है, किन्तु आजकल कुछ लोगो को यह पर्व विघ्नरूप हो रहा है। जो पावन पर्व अन्त करण की मलीनता हटा कर शत्रु के साथ भी मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने का सजीव सन्देश देता है, उसी पर्व के लिए क्लेश होना सचमुच बडे ही दु ख का विषय है। आप भलीभाति ध्यान रखें कि इस पवित्र पर्व पर आपके निमित्त से तनिक भी क्लेश न हो पाये। आप अपनी आत्मा के दोषो को दूर करके पवित्र बनिये। इस पवित्र पर्व का दिन सच्चे हृदय से, भावपूर्ण आलोचना करने का दिवस है। अतएव इस पर्व का उपयोग जीवन को पवित्र बनाने के लिए ही करना उचित है।

यहाँ एक शका की जा सकती है। वह यह है कि गुरु के समक्ष मर्यादापूर्वक अपने दुष्कृत प्रकट करना आलो-

चना है, परन्तु दुष्कृत प्रकट करने में किस प्रकार की मर्यादा रखनी चाहिए ? इस शका के उत्तर मे कहा गया है कि आलोचना करने में सरलता होनी चाहिए । अर्थात् जो बात, जिस रूप मे हुई हो, वह उसी रूप मे प्रकट कर देनी चाहिए । उसमें किसी प्रकार का अन्तर-न्यूनाधिकता और कपट नही होना चाहिए । वही आलोचना सच्ची और शुद्ध है, जो निष्कपट भाव से की गई हो । श्री निशीथसूत्र मे कहा है—

अपलिउंचियं आलोएज्जा, मासियं पलिउंच्चिय आलोएमाणे विमासियं ।

अर्थात्— जिस अपराध का दण्ड एक मास है, उस अपराध की आलोचना अगर निष्कपट भाव से की जाये तो एक ही मास का दण्ड आता है, अगर आलोचना करने मे कपट किया गया तो दो मास का दण्ड आता है । अर्थात् एक मास का दण्ड उस अपराध का और एक मास का दण्ड कपट का होता है । अतएव आलोचना करने मे सरल और निष्कपट रहने की मर्यादा का पालन करना चाहिए ।

ससार मे विषमता दिखाई देती है, उसका कारण कपट भी है । इस प्रकार कपट विषमता का कारण है, फिर भी लोगो ने उसे जीवन का एक आवश्यक अग मान लिया है । लोगो मे यह समझ फैल गई है कि कपट किये बिना जीवन-व्यवहार चल ही नही सकता । इतना ही नही, निष्कपट को भोला समझा जाता है और जो कपट करने की अनेक चाले जानता है, वह होशियार माना जाता है । मगर शास्त्र कहता है—कपट महान् पाप है । जो दूसरो को ठगने का प्रयत्न करता है, वह अपनी आत्मा को ही

ठगता है ।

आलोचना किस प्रकार की होनी चाहिए? इस सबध मे एक प्राचीन ग्रन्थ मे कहा है—

'जयंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ तं तह आलोएज्जा मायामया विप्पमुक्को ।'

तुम नादान नासमझ को बालक कहते हो, हम सरल हृदय वाले को बालक कहते है। जिसे कपट का चेप नही लगा है, वह बालक अपने माता-पिता के समक्ष प्रत्येक बात निष्कपट भाव से स्पष्ट कह देता है । बालक मे किसी प्रकार का कपट नही होता और इस कारण वास्तविक बात प्रकट कर देने मे उसे किसी प्रकार का सकोच नही होता । सुना जाता है कि बालक की निष्कपट बातो द्वारा कितने ही अपराधो का पता चल सका है । खाचरौद (मालवा) की एक सत्य घटना इस प्रकार सुनी जाती है— खाचरौद मे एक ओसवाल की कन्या को किसी माहेश्वरी भाई ने मार डाली थी । उस माहेश्वरी का ओसवाल के साथ घर जैसा सम्बन्ध था, लेकिन गहनो के गहन प्रलोभन मे पडकर उसने कन्या के प्राण ले लिये । कन्या को मार कर उसने गहने उतार लिये और धान्य के भौयरे मे शव छिपा दिया । लड़की के माँ-बाप जब लडकी की खोज करने लगे तो वह माहेश्वरी भी आँसू वहाता हुआ खोज मे शामिल हो गया । घर जैसा सम्बन्ध होने के कारण तथा उसकी चालाकी के कारण किसी को उस पर सन्देह नही हुआ ।

लडकी की खोज करने के लिए पुलिस ने भी बहुत माथापच्ची की, मगर फल कुछ भी नही निकला । अन्त में

पुलिस सुपरिटेन्डेट ने लडकी के पता लगाने का बीडा उठाया और उसी माहेश्वरी के घर अड्डा जमाया । दूसरे दिन माहेश्वरी की छोटी वहिन प्रसाद लेकर उधर से निकली । सुपरिन्टेडेट ने उसे अपने पास प्यार से बुलाया और पूछा– 'वेटी ! यह क्या ले जा रही हो ?' उत्तर मिला– 'मेरे भाई ने मनौती की थी कि लडकी के मारने मे मेरा नाम न आया तो मैं देवी को प्रसाद चढाऊँगा । यह मनौती पूरी हुई है, इसलिए मैं देवी को प्रसाद चढाने जा रही हूं ।

माहेश्वरी की नन्ही वहिन कपट-युक्ति नहीं जानती थी । अतएव उसने सव वात स्पष्ट कह दी । उसके कहने से ओसवाल की उस लडकी के खून का पता लग गया । माहेश्वरी पकडा गया, उस पर अभियोग चला और उसे यथोचित् दण्ड भी मिला ।

माहेश्वरी की छोटी वहिन ने सरलभाव से सव वात कह दी, यह अच्छा किया या वुरा किया ? यह वात दूसरे से सवन्ध रखती है, इसलिए तुम कदाचित् लडकी के कार्य को भला कहोगे, मगर अपने विपय मे देखो, तुम कोई वात छिपाते तो नही हो ? किसी किस्म का कपट तो नही करते? कपट करके कदाचित् यहा कोई वात छिपा लोगे तो क्या परलोक मे भी वह छिपी रह सकेगी ? जव परलोक मे वह वात प्रकट होती ही है तो फिर कपट करने का पाप क्यो करते हो ? कपट करके पाप छिपाने से पाप अधिक बढता है । अतएव पाप को प्रकट करके उसकी सरलतापूर्वक आलोचना कर डालना चाहिए । इसी में कल्याण है ।

एक कवि ने कहा है – जैसे वालक निष्कपट भाव से अपने पिता के समक्ष सारी वातें स्पष्ट कह देता है, उसी

प्रकार गुरु के समक्ष आलोचना करके सब बाते सरलतापूर्वक साफ-साफ कह देनी चाहिए। आलोचना करने मे किसी प्रकार का क्लेश नही होना चाहिए। कपट करके दूसरे की आँखों मे धूल झोंकी जा सकती है, परन्तु क्या परमात्मा को भी धोखा दिया जा सकता है? नही। परमात्मा को धोखा देने की असफल चेष्टा करना अपने आप को कष्ट मे डालने के समान है। अत आलोचना मे सरलता और निष्कपटता रखना आवश्यक है। शास्त्र मे भी कहा है—

माई मिच्छदिट्ठी, अमाई सम्मदिट्ठी।

अर्थात्—जहाँ कपट है वहाँ मिथ्यात्व है और जहां सरलता है वहाँ सम्यग्दर्शन है। लोग सम्यग्दर्शन चाहते हैं मगर सरलता से दूर रहना चाहते हैं। यह तो वही बात हुई कि 'रोपा पेड बबूल का आम कहा से होय।' एक भक्त ने कहा है—

मन को मतो एक ही भांति।
चाहत मुनि मन अगम सुकृत फल मनसा अघ न अघाति॥

अर्थात्—सभी का मन उत्तम फल की आशा रखता है। जिस उत्तम फल की कल्पना साधु भी नही कर सकते, वैसा उत्तम फल तो चाहिए मगर कार्य वैसा नही चाहिए। तीर्थंकर गोत्र का बध होना, शास्त्र मे बडे से बडा फल माना गया है। अगर कोई कहे कि यह फल आपको मिलेगा तो क्या आपको प्रसन्नता नही होगी? मगर क्या यह फल बाजार मे बिकता है जो खरीद कर लाया जा सके? मन तो पाप से बचता नही है, फिर इतना महान् फल कैसे मिल सकता है? अतएव महान् फल की प्राप्ति के लिए हृदय मे सरलता धारण करो और अपने अपराधो को गुरु के समक्ष सरलता-

पूर्वक प्रकट कर दो। इस प्रकार सरलता का व्यवहार करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है।

कहा जा सकता है कि सरलता किस प्रकार धारण करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी भी बात मे छल-कपट से काम नही लेना चाहिए। वरन् जो बात जिस रूप मे हो, उसे उसी रूप मे स्पष्ट कह देना चाहिए। कल्पना कीजिए, आपके पास दस रुपये है। कोई दूसरा आदमी आपसे दो रुपया मागने आया। आपको अच्छी तरह मालूम है कि आपके पास दस रुपया हैं, फिर भी अगर आप मागने वाले से कहते है—'अजी, मेरे पास रुपये होते तो मै क्या आपको नाही करता!' इस प्रकार दुर्व्यवहार करना कपट है, सरलता नही है। कपट करना अपनी आत्मा का अपमान करने के समान है। अगर आप मागने वाले को रुपया नही देना चाहते तो स्पष्ट कह देना चाहिए कि मेरे पास रुपया है, मगर मैं नही देना चाहता। ऐसा कहने मे कपट भी नही और आत्मा का अपमान भी नही है।

कहा जा सकता है कि इस प्रकार के स्पष्ट व्यवहार से तो लोक-व्यवहार का लोप होता है। इसके उत्तर मे ज्ञानीजनो का कथन है कि कपटपूर्ण व्यवहार से धर्म और व्यवहार दोनो का लोप होता है। मांगने वाले से आपने स्पष्ट कह दिया होता कि मैं रुपया नही देना चाहता तो आपका व्यवहार उलटा अच्छा होता। मगर कपट करने से व्यवहार अच्छा नही रह सकता। आपका उत्तर सुन कर माँगने वाला मनुष्य तुम्हारे विषय मे यह सोचता कि उन्होने रुपया नही दिया, मगर बात सच्ची कह दी, झूठ नही बोला। इस प्रकार तुम्हारे सत्य व्यवहार से तुम्हारा विश्वास भी जमेगा।

आजकल ग्रामो की अपेक्षा नगरो में कपट अधिक देखा जाता है। इस कपट को हटाकर सरलतापूर्वक अपने पाप परमात्मा की साक्षी से, गुरु के समक्ष प्रकट करना चाहिए। एक कवि ने कहा है—

किं बाललीलाकलितो न बाल,
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः।
तथा यथार्थं कथयामि नाथ!
निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे ॥

अर्थात्—हे नाथ! तुम्हारे सामने वास्तविक बात प्रकट करने मे मुझे सकोच ही क्या हो सकता है? अथवा ऐसा करने मे मेरी विशेषता ही क्या है? क्या बालक अपने माता-पिता के सामने सब बात खोलकर नही कह देता? पिता भले ही वह बातें जानता हो, फिर भी बालक तो सब बातें कह ही देता है। बालक की भाँति, हे नाथ! अगर में भी सब बाते तुम्हारे समक्ष स्पष्ट कह दू तो इसमे सकोच की क्या बात है? और विशेषता भी क्या?

तुम बालक की भाँति निष्कपट और सरल बनो। हृदय मे जो शल्य हो उन्हे निकाल फेंको। विचार करो कि अगर मैं परमात्मा के सामने भी सरल न बना तो फिर और कहा सरल बनूंगा? पाप छिपाने से छिप तो सकते नही हैं, फिर उन्हे छिपाने का प्रयत्न करके अधिकतर दण्ड का पात्र क्यो बनना चाहिए? कहावत है—'उत्तम का दण्ड साधु-समागम, मध्यम का दण्ड राज्य और अधम का दण्ड यमराज।' अत यह विचार करो कि हम अपने पाप प्रकट करके उत्तम दण्ड ही क्यो न भोग? जिन पापो के कारण आज साधारण दण्ड भोगते दुख होता है, उन्हीं पापों को छिपाने के कारण

आगे चलकर घोर दण्ड सहन करना पडेगा । उस समय कितना दुःख भुगतना पडेगा ? अतएव घोर दण्ड से बचने के लिए अपने पाप यही प्रकट करके आलोचना कर लेना चाहिए।

कवि कहता है—'प्रभो! मुझ मे बालक के समान सरलता होनी चाहिए और तुम्हारे समक्ष कोई भी बात प्रकट करने मे मुझे सकोच नही होना चाहिए।' कवि ने इस प्रकार कहकर निष्कपट-सरल बनने का, अपना आन्तरिक भाव व्यक्त किया है ।

लोगो के लिए सरलता सरल और कपट कठिन है । मगर उन्होने इससे विपरीत मान लिया है । बस समझते हैं—सरलता रखना कठिन है और कपट करना सरल है । इस झूठी मान्यता के कारण ही लोग ससार के चक्र में घूम रहे हैं ।

कुछ लोग कहते है कि आजकल कोई महाज्ञानी महापुरुष नही हैं, इस दशा में हमारा निस्तार कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि तुम्हारे भीतर शक्ति होने पर ही महाज्ञानी तुम्हारा निस्तार कर सकते है । तो फिर तुम यह क्यो नही देखते कि तुममे शक्ति है या नही ? तुम्हारी आत्मा सरल है या कपटयुक्त है, यह बात पहले देखना चाहिए । अगर तुम्हारे अन्तर मे सरलता होगी तो तुम अपना कल्याण आप ही कर लोगे । अगर आत्मा कपटयुक्त हुआ तो फिर कोई भी तुम्हारा कल्याण नही कर सकता । क्योकि सरलता के विना आत्मकल्याण होना असभव है । कपट तो कल्याण के द्वार मे प्रवेश करने के वज्रमय कपाट के समान है ।

शास्त्र मे आलोचना के सम्बन्ध मे खूब विस्तृत विवेचन किया गया है। श्री महानिशीथ सूत्र मे आलोचना के निक्षेप करके अत्यन्त सरलतापूर्वक वर्णन किया गया है। उस वर्णन का साराश यह है कि नाम आलोचना, स्थापना आलोचना, द्रव्य आलोचना और भाव आलोचना–इस प्रकार आलोचना के चार भेद है। नाम मात्र की आलोचना अर्थात् आलोचना का सिर्फ नाम ले लेना नाम आलोचना है। किसी जगह आलोचना की स्थापना करना या पुस्तक आदि में आलाचना लिखना स्थापना-आलोचना है। ऊपर-ऊपर से आलोचना करना और हृदय से आलोचना न करना द्रव्य–अलोचना है। अन्तकरण से, भावपूर्वक आलोचना करना भाव-आलोचना कहलाती है।

अभी रामजी भाई को ब्रह्मचर्य स्वीकार करने उपलक्ष्य मे बारह व्रतो की जो आलोचना कराई गई है, वह केवल उन्ही को कराई गई है या तुम्हे भी ? वह स्थूल हिंसा नही करते और न स्थूल असत्य भाषण करते हैं। क्या तुम ऐसा करते हो ? अगर ऐसा नही करते तो यह आलोचना तुम्हारे लिए भी है। मगर एक बात सदैव ध्यान मे रखना चाहिए, वह यह कि आलोचना केवल द्रव्य-आलोचना ही न रह जाये।

यहा शास्त्र मे भाव-आलोचना का ही वर्णन है। भाव-आलोचना का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है.—

'आलोयइ, निंदइ, गरिहइ, पडिक्कमइ' आहारियं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जइ, आराहियं भवइ।'

इस प्रकार की आलोचना ही भाव-आलोचना है। सवत्सरी पर्व जीवन को शुद्ध बनाने का पर्व है। यह पर्व

कि केसर की क्यारी में धूल कहा से पड गई ? जैसे केसर मे धूल पड जाना सह्य नही होता उसी प्रकार व्रत मे दोष लगना भी सह्य नही होना चाहिए और अपने अपराध की निन्दा करनी चाहिए । अपने दोषों की निन्दा करते-करते जो आलोचना की जाती है, वही सच्ची आलोचना है ।

आत्मनिन्दा भी द्रव्य से नही वरन् भाव से करनी चाहिए और आत्मनिन्दा के साथ गर्हा भी करनी चाहिए और अकृत्य के शोधन के लिए गुरु द्वारा दिये हुए प्रायश्चित को स्वीकार करना चाहिए । भगवान् ने कहा है कि इस प्रकार विधिपूर्वक आलोचना करने वाला जघन्य तीन भवों मे और उत्कृष्ट पन्द्रह भवो मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है ।

श्री भगवती सूत्र मे कहा है– आलोचना का आराधक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है । उत्कृष्ट आराधक तीन भव मे मोक्ष जाता ही है । आप भी इस प्रकार की आलोचना करके आत्मा का कल्याण करो । किसी भी पाप को दबाओ या छिपाओ मत, उसे सरलता-पूर्वक प्रकट कर दो । आलोचना करने मे सत्य का ही व्यव-हार करो । परमात्मा का सच्चा भक्त असत्य नही बोलेगा और न दुराचार ही सेवन करेगा ! असत्यभाषी और दुरा-चारी परमात्मा का सच्चा भक्त हो ही नही सकता । पर-मात्मा की भक्ति करना और सत्य एव शील का सेवन करना एक ही वात है । सत्य मे महान् शक्ति है । सत्य के प्रभाव से असिपिजर मे से भी मनुष्य अक्षुण्ण बच निकल सकता है । इस प्रकार के निष्कलक सत्य की आराधना करने मे प्राण भले ही चले जाएँ, मगर सत्य का परित्याग नही करूँगा, ऐसी दृढभावना रहनी चाहिए । फिर इसी दृढता से सत्य

ओर शील का पालन किया जाये तो कल्याण आपकी मुट्ठी में ही है।

सत्य, शील और परमात्मा की प्रार्थना के विषय में अन्यत्र विवेचन किया गया है। अब यह विचार करना है कि इसका फल कैसा होता है और वह किसे प्राप्त होता है?

तीखी तलवार का फूल के समान कोमल हो जाना, विष का अमृत हो जाना और जान-माल को हानि पहुँचाने वाले शत्रु का अपने आप झुक जाना, यह सब फल मिलता हो तो किसे खराब लगेगा? ऐसे फल की आशा तो सभी करते हैं, मगर अपने कामो की तरफ कोई आख उठाकर भी नही देखता। प्राचीन काल मे मुनियो की गोदी मे सिह और साप भी लौटते थे, ऐसा सुना जाता है। भगवान् की धर्मपरिषद् मे, भगवान् का उपदेश सुनने के लिए सिह और बकरी एक साथ बैठते थे। किसी को किसी से भय नही था। अगर आज सिह आये तो आप लोग उसके आने से पहले ही भाग जाएँगे।

इस प्रकार की कायरता रख कर भी आप ऐसा फल चाहते हैं, जो मुनियो की भी कल्पना में न आया हो। कार्य न करना और फल चाहना तो जादू के फल चाहने के समान है। अगर आप जादुई फल न चाहते हो तो आपको सत्कार्य करना चाहिए। सत्कार्य करने के साथ भावना ऐसी रखनी चाहिए कि फल मिले या न मिले मुझे कर्त्तव्य करना ही चाहिए। मगर जैसे चोर धधा किये बिना ही धन चाहता है, इसी प्रकार लोग कार्य किये बिना ही फल चाहते है। क्या आपको चोर की नीति पसन्द है? अगर पसन्द नही है तो कार्य किये बिना फल की आशा करने की नीति क्या अच्छी है? कार्य करोगे तो उसका फल मिलेगा ही। अत-

सन्निकट आ रहा है। इस पवित्र पर्व के दिन तो ऐसी भाव-आलोचना करना ही चाहिए। प्रतिक्रमण करते समय 'मित्ती मे सव्यभूएसु' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव है, इस प्रकार का सूत्रपाठ बोलते हो, मगर यह भी देखना चाहिए कि यह पाठ जीवन मे कितना उतरा है ? अगर यह मैत्रीभावना केवल जिह्वा से बोल दी और जीवनव्यवहार मे अमल में नही आई तो यही कहना होगा कि तुम अभी तक भाव-आलोचना तक नही पहुँच सके हो। 'मित्तो मे सव्वभूएसु' इस सूत्रपाठ को मानने वाला व्यक्ति किसी को अपना शत्रु तो मान ही नही सकता और न किसी के साथ क्लेश ही कर सकता है। प्राणीमात्र के प्रति उसकी तो मैत्रीभावना ही होगी।

समस्त प्राणियो को मित्र के समान समझना चाहिए, यह कथन सुनकर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि सबको मित्र मानने का अर्थ क्या यह है कि जिनसे हमे रुपया लेना है, उन्हे यो ही छोड़ दिया जाये ? ऋण वसूल न किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मित्र के साथ क्या लेन-देन नही किया जाता ? अपना लेना वसूल करने की मनाई नही है, मगर अन्याय करने का निषेध किया गया है। हृदय में किसी के प्रति वैरभाव नही रखना चाहिए। हम साधुओ को तो सबके प्रति मैत्रीभाव रखना ही चाहिए, चाहे कोई हमारे प्राण ही क्यो न ले ले! गजमुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकते अगार रखे गये थे, फिर भी सोमल ब्राह्मण को उन्होने अपना मित्र ही माना था। साधुओं को एक क्षण के लिए भी नही भूलना चाहिए कि वे किसके शिष्य है और हमे हृदय मे किस प्रकार का मैत्रीभाव धारण करना चाहिए।

आज जैनधर्म का अनुयायी कोई राजा नही रहा। तुम्ही उसके अनुयायी हो और इसी कारण पोल चल रही है। तुम धर्म का विचार न करो, असत्य बात पकड बैठो या धर्म मे अधिक झझट उत्पन्न करो, तो इसके लिए तुमसे अधिक क्या कहा जाये ? तुमसे ज्यादा कुछ नही बन पडता, तो कम से कम इतना तो अवश्य करो कि ससारव्यवहार के साथ धर्म को एकमेक न करो। अगर इतना भी करोगे तो आज सघ के जो टुकडे-टुकडे हो रहे है, वह न होंगे। धर्म की रक्षा करने से सघ मे एकता और शान्ति की स्थापना अवश्य होगी।

कहा जा सकता है कि आप यहा अधिक कहाँ रहने वाले है ? ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अगर मैं शरीर से नही तो धर्म से तो रहूगा ही। तुम्हारे धर्मभाव के कारण ही मैं यहा आया हूं और इसी-लिए तुम मुझे लाये हो। तुम जिस धर्म का पालन करते हो वह मुझमें न होता अथवा जिस धर्म का पालन मैं करता हूं वह तुममे न होता तो तुम मुझे यहा लाते ही क्यो? और मैं भी किसलिए आता ? यह धर्म या यश का शरीर तो रहता ही है। इसीलिए मैं तुमसे कहता हूं कि धर्म के नाम पर रगडे-झगड़े मत करो। विचार करो कि हम गजसुकुमार मुनि के शिष्य हैं। उन्होंने तो मस्तक पर धधकते अगार रखने वाले को भी मित्र समझा था तो क्या हम अपने सह-धर्मी को भी मित्र नही समझ सकते ?

भावपूर्वक की जाने वाली आलोचना ही सच्ची आलो-चना है। कर्म के उदय से अपराध तो हो जाता है, मगर उस अपराध की निन्दा करनी चाहिए और सोचना चाहिए

कि केसर की क्यारी मे धूल कहा से पड गई ? जैसे केसर में धूल पड जाना सह्य नही होता उसी प्रकार व्रत मे दोष लगना भी सह्य नही होना चाहिए और अपने अपराध की निन्दा करनी चाहिए । अपने दोषों को निन्दा करते-करते जो आलोचना की जाती है, वही सच्ची आलोचना है ।

आत्मनिन्दा भी द्रव्य से नही वरन् भाव से करनी चाहिए और आत्मनिन्दा के साथ गर्हा भी करनी चाहिए और अकृत्य के शोधन के लिए गुरु द्वारा दिये हुए प्रायश्चित को स्वीकार करना चाहिए । भगवान् ने कहा है कि इस प्रकार विधिपूर्वक आलोचना करने वाला जघन्य तीन भवों मे और उत्कृष्ट पन्द्रह भवो मे अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

श्री भगवती सूत्र मे कहा है- आलोचना का आराधक जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है। उत्कृष्ट आराधक तीन भव में मोक्ष जाता ही है । आप भी इस प्रकार की आलोचना करके आत्मा का कल्याण करो। किसी भी पाप को दबाओ या छिपाओ मत, उसे सरलतापूर्वक प्रकट कर दो । आलोचना करने मे सत्य का ही व्यवहार करो । परमात्मा का सच्चा भक्त असत्य नही बोलेगा और न दुराचार ही सेवन करेगा । असत्यभाषी और दुराचारी परमात्मा का सच्चा भक्त हो ही नही सकता । परमात्मा की भक्ति करना और सत्य एव शील का सेवन करना एक ही वात है । सत्य मे महान् शक्ति है। सत्य के प्रभाव से असिपिंजर मे से भी मनुष्य अक्षुण्ण बच निकल सकता है । इस प्रकार के निष्कलक सत्य की आराधना करने मे प्राण भले ही चले जाएँ, मगर सत्य का परित्याग नही करूँगा, ऐसी दृढभावना रहनी चाहिए । फिर इसी दृढ़ता से सत्य

ओर शील का पालन किया जाये तो कल्याण आपकी मुट्ठी में ही है ।

सत्य, शील और परमात्मा की प्रार्थना के विषय में अन्यत्र विवेचन किया गया है । अब यह विचार करना है कि, इसका फल कैसा होता है और वह किसे प्राप्त होता है?

तीखी तलवार का फूल के समान कोमल हो जाना, विष का अमृत हो जाना और जान-माल को हानि पहुँचाने वाले शत्रु का अपने आप झुक जाना, यह सब फल मिलता हो तो किसे खराब लगेगा ? ऐसे फल की आशा तो सभी करते हैं, मगर अपने कामो की तरफ कोई आख उठाकर भी नही देखता। प्राचीन काल मे मुनियो की गोदी मे सिंह और साप भी लौटते थे, ऐसा सुना जाता है। भगवान् की धर्मपरिषद् मे, भगवान् का उपदेश सुनने के लिए सिह और बकरी एक साथ बैठते थे। किसी को किसी से भय नही था। अगर आज सिह आये तो आप लोग उसके आने से पहले ही भाग जाएँगे ।

इस प्रकार की कायरता रख कर भी आप ऐसा फल चाहते हैं, जो मुनियो की भी कल्पना में न आया हो। कार्य न करना और फल चाहना तो जादू के फल चाहने के समान है। अगर आप जादुई फल न चाहते हो तो आपको सत्कार्य करना चाहिए। सत्कार्य करने के साथ भावना ऐसी रखनी चाहिए कि फल मिले या न मिले मुझे कर्त्तव्य करना ही चाहिए। मगर जैसे चोर धधा किये बिना ही धन चाहता है, इसी प्रकार लोग कार्य किये बिना ही फल चाहते हैं। क्या आपको चोर की नीति पसन्द है ? अगर पसन्द नही है तो कार्य किये विना फल की आशा करने की नीति क्या अच्छी है ? कार्य करोगे तो उसका फल मिलेगा ही । अत-

एव फल की आशा न रखते हुए कार्य करते रहना चाहिए।

जव तक वस्तु का गुण न जान लिया जाये तब तक उसके प्रति रुचि उत्पन्न नही होती। जो वस्तु पहले साधारण मालूम होती है, गुण का ज्ञान होने पर वही महान् मालूम होने लगती है। पैत्रिकसम्पत्ति में मिले हुए हीरे की कीमत जब तक जान न ली जाये तब तक वह साधारण जान पडता है। मगर जब जौहरी उसकी कीमत अ कता है तब वही हीरा कितना कीमती मालूम होता है। इसी प्रकार ऊपर-ऊपर से आलोचना का नाम तो लिया जाता है मगर आलोचना से प्राप्त होने वाले गुण की बात तो भगवान् महावीर जैसे ज्ञाननिधान से ही जानी जा सकती है। आलोचना के विषय मे भगवान् महावीर का कथन सुनने के बाद जब आलोचना आपको महान् प्रतीत होने लगे, तभी समझना चाहिए कि 'हमने भगवान् की वाणी सुनी है।'

आलोचना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—'मोक्षमार्ग में वाधा डालने वाली और अनन्त ससार की वृद्धि करने वाली माया का अ लोचना द्वारा नाश होता है।'

भगवान् ने भाव-आलोचना का यह फल बतलाया है। आलोचना तो तुम भी करते होगे, मगर पहले यह देख लो कि तुम्हारे हृदय से कपट निकला है या नही ? अगर तुमने कपट का त्याग करके आलोचना की है तो वह सही आलोचना है। अन्यथा दुनिया को ठगने के लिए और 'हमने आलोचना की है,' यह कहने के लिए की गई आलोचना खोटी आलोचना है। माया-कपट का लेश भी जिसमे न हो, वही शुद्ध आलोचना है। जो माया मोक्षमार्ग मे वाधा उपस्थित करती है और अनन्त-ससार वढ़ाती है, उस माया

का त्याग करने के लिए ही आलोचना करना वास्तविक आलोचना है ।

मान लीजिए, आपको जगल के निकट मार्ग मे होकर कही जाना है । आपको भय है कि अमुक व्यक्ति हमारे मार्ग मे वाधा खडी करेगा । ऐसी अवस्था मे आपको एक साथी मिल गया, जो बाधा खडी करने वाले को भगा सकता है । अब आप उस साथी की सहायता लेंगे या नही ? इसी प्रकार माया मोक्षमार्ग मे विघ्न खडा करती है । इसे हटाने के लिए आलोचना की सहायता लेनी चाहिए ।

माया के अनेक रूप हैं । फिर भी सक्षेप मे उसके चार भेद किये हैं:—

(१) अनन्तानुबन्धी माया (२) अप्रत्याख्यानी माया (३) प्रत्याख्यानी माया (४) सज्वलन माया । अन्य धर्मों के शास्त्रो मे भी माया का विस्तृत वर्णन किया गया है और वहा अखिल ब्रह्माण्ड को माया और ब्रह्म से बना हुआ बतलाया है । परन्तु जैनशास्त्र प्रकृति को माया कहता है । एक विशेष प्रकार की प्रकृति माया है ।

हमारे भीतर किस प्रकार की माया है, यह बात तो अपने आप ही जानी जा सकती है । बहुत से लोग अपनी बुराइया छिपाकर उलटे अपनी प्रशसा करते हैं, जिससे दूसरे लोग उन्हे अच्छा समझें । मगर ऐसा करना गूढ माया है । लोगो को ठगने वाली माया से आत्मा का कल्याण कदापि नही हो सकता ।

माया की अधिकता ग्रामो की अपेक्षा नगरो में खूब देखी जाती है । माया की दृष्टि से एक ग्रामीण अच्छा कहा

एव फल की आशा न रखते हुए कार्य करते रहना चाहिए।

जव तक वस्तु का गुण न जान लिया जाये तब तक उसके प्रति रुचि उत्पन्न नही होती। जो वस्तु पहले साधारण मालूम होती है, गुण का ज्ञान होने पर वही महान् मालूम होने लगती है। पैत्रिकसम्पति मे मिले हुए हीरे की कीमत जब तक जान न ली जाये तब तक वह साधारण जान पडता है। मगर जब जौहरी उसकी कीमत आंकता है तब वही हीरा कितना कीमती मालूम होता है। इसी प्रकार ऊपर-ऊपर से आलोचना का नाम तो लिया जाता है मगर आलोचना से प्राप्त होने वाले गुण की बात तो भगवान् महावीर जैसे ज्ञाननिधान से ही जानी जा सकती है। आलोचना के विषय मे भगवान् महावीर का कथन सुनने के बाद जब आलोचना आपको महान् प्रतीत होने लगे, तभी समझना चाहिए कि 'हमने भगवान् की वाणी सुनी है।'

आलोचना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है—'मोक्षमार्ग मे बाधा डालने वाली और अनन्त ससार की वृद्धि करने वाली माया का आलोचना द्वारा नाश होता है।'

भगवान् ने भाव-आलोचना का यह फल बतलाया है। आलोचना तो तुम भी करते होगे, मगर पहले यह देख लो कि तुम्हारे हृदय से कपट निकला है या नही ? अगर तुमने कपट का त्याग करके आलोचना की है तो वह सही आलोचना है। अन्यथा दुनिया को ठगने के लिए और 'हमने आलोचना की है,' यह कहने के लिए की गई आलोचना खोटी आलोचना है। माया-कपट का लेश भी जिसमे न हो, वही शुद्ध आलोचना है। जो माया मोक्षमार्ग मे बाधा उपस्थित करती है और अनन्त-ससार बढाती है, उस माया

माया अत्यन्त निकृष्ट है । माया पापमयी राक्षसी है । अगर तुम इसे जीतना चाहते हो तो सादगी अपनाओ । स दगी अपनाने से तुम्हारा आत्मा भी पवित्र बनेगा और दूसरो का भी कल्याण होगा ।

जो माया का गुलाम नही है, वह पापात्मा के सामने हृदय खोलकर अपने अपराध पेश कर देता है । वह सच्ची अ लोचना करता है । बहिने घर झाडते समय घर की वस्तुए बाहर नही फेंक देती, सिर्फ कचरा फेंकती है । इसी प्रकार पर्यूषणपर्व मे हृदय के कचरे—माया को बाहर निकालकर फेंक दो । बहुतेरे लोग हृदय के मैल— माया को तो सभाल रखते है और सद्‌गुणरूपी वस्तुएं फेंक देते है । यह पद्धति खोटी है । इसे त्यागो । जान-बूझकर कोई घर में कचरा नही लाता, प्राकृतिक रूप से कचरा घर मे आजाता है । महीना दो महीना निरन्तर बन्द रहने वाले मकान में भी कचरा घुस जाता है । इसी प्रकार मानवीय प्रकृति के कारण भले ही हृदय मे माया आ गई हो, मगर उसे सभाल कर मत रखो—निकाल बाहर करो । जब हृदय में से माया निकाल फेंकने की तमन्ना पैदा होगी तब थोडीसी माया भी अधिक मालूम होगी, ठीक उसी प्रकार जैसे कचरा फेंकने की तमन्ना रखने वाली स्त्री को थोड़ा भी कचरा अधिक जान पडता है । इसी भाव को प्रकट करते हुए एक भक्त कहता है.—

माधव ! मो सम मन्द न कोऊ ।
यद्यपि मीन पतग हीनमति, मोहिं न पूजैं ओऊ ।
महामोह—सरिता अपार मे, सन्तत फिरत बह्यो ।
श्रीगुरु चरण-शरण नौका तजि, पुनि-पुनि फैन गह्यो ,,

जाये या एक मशहूर वकील वैरिस्टर ? ग्रामीण किसान ज्वार को ज्वार ही कहता है, ज्वार को वाजरा नही कहता। मगर वकीलो और वैरिस्टरो का क्या पूछना है ? वह ज्वार को भी वाजरा सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। वास्तविकता कुछ और होती है और वकील लाग सिद्ध करते है कुछ और ही। इस प्रकार उलटे को सीधा और सीधे को उलटा क के वह अपनी कमाई करते हैं और मौज उडाते हैं। मगर उन्हे स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार को माया मोक्षमार्ग मे विघ्नवाधा खडी करती है।

पर्यूषणपर्व नजदीक आ रहा है। अन्तत इस पर्व में तो माया का त्याग करना ही चाहिए। इस पर्व मे तुम्हे सादगी धारण करनी चाहिए या आडम्वर बढाना चाहिए? तुम वहुमूल्य वस्त्र धारण करो और तुम्हारे भाइयो को भोजन भी न मिले, यह कितना अनुचित है ? अतएव सादगी धारण करो। रामचन्द्रजी प्रकट मे तो पिता की आज्ञा पालन करने के हेतु वन मे गये थे, पर वास्तव मे रावण द्वारा होने वाले पापो और अन्यायो को नष्ट करने के लिए गये थे। वह पाप का विशाश करने के लिए सादा वन कर गये थे। उन्होंने छाल के वस्त्र धारण किये थे। क्या छाल के वस्त्र, खादी के वस्त्रो की अपेक्षा अच्छे थे ? यदि कहो– नही, तो रामचन्द्र ने किस कारण उन्हे धारण किया था ? क्या वह मूर्ख थे ? रामचन्द्रजी मूर्ख नही थे। उन्हे पापो का नाश करना था और सादगी धारण किये विना पाप नष्ट नही हो सकते थे। इसी कारण उन्होने वल्कलवस्त्र पहने थे। तुम और कुछ नही कर सकते तो इस पवित्र पर्व मे पापो का नाश करने के लिए कम से कम सादगी धारण तो करो।

लिए तो जिनमत की क्रिया करता हू, मगर अवगुणो का त्याग करने के लिए श्रम नही करता, जो अवगुण अनादि से मुझे प्रिय हैं।

हृदय मे जब इस प्रकार का उन्नतभाव व्यक्त होता है और सचाई के साथ गुरु के समक्ष अपने पापो की आलोचना की जाती है तो माया का विनाश अवश्य होता है। अगर पाप को नष्ट करने की भावना का उद्भव हो तो—

पाप-पराल को पुंज बन्यो अति मानहु मेरु आकारो।
सो तुम नाम हुतासन सेती सहज ही प्रज्वलत सारो॥

अर्थात्—सुमेरु जितना बडा पापो का पुज भी परमात्मा का शरण स्वीकार करने से नष्ट हो जाता है। कपट करके दूसरे को मायाजाल मे फँसाया जा सकता है, लोगों की ऐसी सामान्य मान्यता है, मगर उन्हे मालूम नही है कि ऐसा करके वे स्वय ही मायाजाल मे फँस रहे है।

भगवान् से आलोचना के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है। यह प्रश्न पूछने के बहाने वास्तव मे भाव-आलोचना की व्याख्या पूछी गई है। जिस आलोचना से माया छूटती है, वही वास्तव में भाव आलोचना है।

अनन्त ससार की वृद्धि करने वाली माया ही है, और कोई नही। कतिपय लोग कहते हैं कि ईश्वर हमे दु ख देता है अथवा काल दुःख देता है। परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि वास्तव मे दु ख देने वाली माया ही है। अगर हमारे भीतर माया का वास न हो तो उस अवस्था से हमे कोई किसी प्रकार का दु.ख नही दे सकता। आलोचना द्वारा माया का विमोचन होता है और माया के विमोचन के पश्चात्

'मा—लक्ष्मी, धारयति—पोषयतीति माधव.' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भक्त अनन्त ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूपी लक्ष्मी के पति माधव को सबोधित करके कहता है—'हे माधव! मेरे बराबर जड और कौन है? यद्यपि मछली और पतग हीनमति कहलाते है, लेकिन मैंने तो उनसे भी बाजी मार ली है। मैं उनमे भी अधिक बुद्धिहीन हू। इस महामोह की नदी मे भटकते-भटकते अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है, फिर भी मैं इसका किनारा नही पा सका। महापुरुषो ने मुझसे नदी के किनारे पर पहुँचाने के लिए कहा—'तू इस नौका पर सवार हो जा तो सरलता से पार हो जायेगा।' लेकिन मैं नौका पर तो आरूढ नही हुआ, पानी के फैन पकडने लगा और उनका सहारा खोजने लगा। मैं अच्छी तरह समझता हू कि यह नौका है और यह फैन है। फिर भी मैंने नौका का आश्रय न लेकर फैन का सहारा चाहा! बताइए, मुझ जैसा मूर्ख इस ससार मे और कौन होगा?'

जो सच्चा भक्त होगा और जो अपने हृदय मे माया को स्थान न देना चाहता होगा, वही इस प्रकार की बात कह सकता है। दूसरे मे इतनी हिम्मत कहाँ? जो पहले से ही अपने को निष्पाप-दूध का धुला समझे बैठा है और महाज्ञानी मानता है, उस पडितमन्य के मुख से इस प्रकार की बात निकल ही नही सकती। भक्तजन अपना आन्तरिक भाव प्रकट करते हुए यहाँ तक कहते है—

अवगुण ढाकन काज करूँ जिनमत-क्रिया।
तजू न अवगुण-चाल, अनादिनी जे प्रिया॥

अर्थात्—हे प्रभो! मैं अपने अवगुणो को ढँकने के

देता है। रानी चेलना धन्य हैं, जिन्हे ऐसा सुन्दर और वीर पति मिला है। हम भी सयम का पालन करती हैं। इस सयम का फल ऐसा सुन्दर पति मिलने के सिवाय और क्या हो सकता है? अतएव हमारी यही कामना है कि हमारे सयम के फलस्वरूप आगामो भव मे हमे ऐसा ही सुन्दर पति प्राप्त हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर कुछ साधु भी जजाल मे फँस गये। वे मन मे कहने लगे—'तप और सयम का फल ऐसी सुन्दरी मिलने के अतिरिक्त और क्या होना चाहिए? मोक्ष किसने देखा है? अतएव तप और सयम का अगर कुछ फल होता हो तो हमे ऐसी ही सुन्दरी का लाभ हो। ऐसी सुन्दरी स्त्री मिलना ही मुक्ति मिलना है।'

इस प्रकार कुछ साधुओ ने तथा कुछ साध्वियो नें अपनी-अपनी धर्मक्रिया का फल क्रमश चेलना जैसी स्त्री और श्रेणिक जैसे पति की प्राप्ति होना चाहा। साधु-साध्वियों के मन का यह भाव और तो कोई नही जान सका, पर सर्वज्ञ भगवान से क्या छिप सकता था? भगवान् ने विचार किया– इस तरह का निदान करना ठीक नही है। मगर इन साधुओ और साध्वियो नें मोह के प्रताप से यह निदान किया है। अलबत्ता कुलीन होने के कारण वे अपना अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने मे विलम्ब नही करेगे। वीतराग भगवान् तो उपदेश देते है। कोई माने तो ठीक है। भगवान् किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डालते।

भगवान् ने उन साधुओ और साध्वियो को अपने पास बुलाया। उन सब के आने पर भगवान् ने सहसा यह नही कहा कि तुमने ऐसा निदान क्यो किया है? वरन् भगवान् ने उन्हे निदान के नौ भेद और उनसे होने वाली

किसी भी प्रकार का दु ख नही रह सकता ।

माया, धर्मक्रिया का भी निदान करा देती है । इस लोक या परलोक के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान कहलाता है। माया ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए निदान कराती है । किसी भी देखी-अनदेखी वस्तु के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान है और निदान आत्मा के लिए शल्य के समान है ।

कुछ लोग ऐसी आशका करते है कि भारतवर्ष धार्मिकक्षेत्र होते हुये भी दु खी क्यो है ? ऐसा कहने वालो को यही उत्तर दिया जा सकता है कि दूसरो के साथ सम्बन्ध जोडने से ही भारतवासी दु खी हो रहे हैं । धर्मक्रिया करने के साथ ही साथ लोग मायाजाल रचते है, यही उनके दु ख का कारण है । प्राचीनकाल के पुरुप इन्द्रपदवी के लिए भी धर्मक्रिया का विक्रय नही करते थे और न अपने धर्म का परित्याग ही करते थे । मगर आज क्या स्थिति है ? आज दो-चार पैसो के लिए भी धर्म को तिलाजलि दे दी जाती है । ऐसी दशा मे भारत दु खी न हो तो क्या हो? सुख की अभिलापा है तो मायानिदान का त्याग करो। जब तक मायानिदान का अन्त नही होता तब तक समस्त धर्मक्रिया भी व्यर्थ जाती है। सारांश यह है कि माया का त्याग किये विना धर्मक्रिया भी मोक्षसाधक नही हो सकती ।

श्रीदशाश्रुतस्कन्ध मे कहा—एक वार राजा श्रेणिक और उनकी रानी चेलना उत्तम पोशाक पहनकर भगवान् के समवसरण मे आये । उस समय वे वहुत ही सुन्दर दिखाई देते थे। यहा तक कि राजा श्रेणिक को देखकर कुछ साध्वियाँ भी मन ही मन कहने लगी—'राजा कितना सुन्दर दिखाई

देता है। रानी चेलना धन्य हैं, जिन्हे ऐसा सुन्दर और वीर पति मिला है। हम भी सयम का पालन करती हैं। इस सयम का फल ऐसा सुन्दर पति मिलने के सिवाय और क्या हो सकता है? अतएव हमारी यही कामना है कि हमारे सयम के फलस्वरूप आगामी भव मे हमे ऐसा ही सुन्दर पति प्राप्त हो।' इसी प्रकार रानी चेलना को देखकर कुछ साधु भी जजाल मे फँस गये। वे मन मे कहने लगे—'तप और सयम का फल ऐसी सुन्दरी मिलने के अतिरिक्त और क्या होना चाहिए? मोक्ष किसने देखा है? अतएव तप और सयम का अगर कुछ फल होता हो तो हमे ऐसी ही सुन्दरी का लाभ हो। ऐसी सुन्दरी स्त्री मिलना ही मुक्ति मिलना है।'

इस प्रकार कुछ साधुओ ने तथा कुछ साध्वियो ने अपनी-अपनी धर्मक्रिया का फल क्रमश चेलना जैसी स्त्री और श्रेणिक जैसे पति की प्राप्ति होना चाहा। साधु-साध्वियों के मन का यह भाव और तो कोई नही जान सका, पर सर्वज्ञ भगवान से क्या छिप सकता था? भगवान् ने विचार किया– इस तरह का निदान करना ठीक नही है। मगर इन साधुओ और साध्वियों ने मोह के प्रताप से यह निदान किया है। अलबत्ता कुलीन होने के कारण वे अपना अपराध स्वीकार करके प्रायश्चित्त लेने मे विलम्ब नही करेगे। वीतराग भगवान् तो उपदेश देते है। कोई माने तो ठीक है। भगवान् किसी पर किसी प्रकार का दबाव नही डालते।

भगवान् ने उन साधुओ और साध्वियो को अपने पास बुलाया। उन सब के आने पर भगवान् ने सहसा यह नही कहा कि तुमने ऐसा निदान क्यो किया है? वरन् भगवान् ने उन्हे निदान के नौ भेद और उनसे होने वाली

किसी भी प्रकार का दु ख नही रह सकता ।

माया, धर्मक्रिया का भी निदान करा देती है । इस लोक या परलोक के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान कहलाता है। माया ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिए निदान कराती है । किसी भी देखी-अनदेखी वस्तु के लिए अपनी धर्मक्रिया बेच देना निदान है और निदान आत्मा के लिए शल्य के समान है ।

कुछ लोग ऐसी आशका करते है कि भारतवर्ष धार्मिकक्षेत्र होते हुये भी दु खी क्यो है ? ऐसा कहने वालो को यही उत्तर दिया जा सकता है कि दूसरो के साथ सम्बन्ध जोडने से ही भारतवासी दु खी हो रहे है । धर्मक्रिया करने के साथ ही साथ लोग मायाजाल रचते है, यही उनके दु ख का कारण है । प्राचीनकाल के पुरुष इन्द्रपदवी के लिए भी धर्मक्रिया का विक्रय नही करते थे और न अपने धर्म का परित्याग ही करते थे । मगर आज क्या स्थिति है ? आज दो-चार पैसो के लिए भी धर्म को तिलाजलि दे दी जाती है । ऐसी दशा मे भारत दु खी न हो तो क्या हो? सुख की अभिलाषा है तो मायानिदान का त्याग करो। जब तक मायानिदान का अन्त नही होता तब तक समस्त धर्मक्रिया भी व्यर्थ जाती है। सारांश यह है कि माया का त्याग किये विना धर्मक्रिया भी मोक्षसाधक नही हो सकती ।

श्रीदशाश्रुतस्कन्ध में कहा—एक बार राजा श्रेणिक और उनकी रानी चेलना उत्तम पोशाक पहनकर भगवान् के समवसरण मे आये । उस समय वे बहुत ही सुन्दर दिखाई देते थे। यहा तक कि राजा श्रेणिक को देखकर कुछ साध्वियाँ भी मन ही मन कहने लगी—‘राजा कितना सुन्दर दिखाई

समक्ष प्रकट कर देना चाहिए शास्त्र धन्य है जिसने साधु-साध्वियो का आलोचना करके जीवन शुद्ध करने का चरित प्रकट करके हमें सावधान कर दिया है। इस चरित से हमें यह शिक्षा लेनी चाहिए कि कदाचित् अपने से ऐसा कोई कार्य हो जाये तो गुरु के समक्ष आलोचना करके इस प्रकार निवेदन करना चाहिए—'गुरुदेव मुझ से अमुक प्रकार का अपराध हो गया है। आप भगवान् की वाणी के अनुसार मुझे शुद्ध और पवित्र कीजिए।' गुरु से इस प्रकार प्रार्थना करके उनके द्वारा दिये हुए दण्ड को स्वीकार करना चाहिए।'

शास्त्र मे आलोचना के अनेक भेद किये गये है। मूल गुणो की भी आलोचना होती है और उत्तर गुणो की भी आलोचना होती है। साधुओ के मूल गुण पाच महाव्रत है और श्रावक के मूलगुण पाच अणुव्रत है। इनमें दोष लगना मूलगुणो मे दोष लगना कहलाता है और उनकी आलोचना करना मूलगुण की आलोचना है। मूलव्रत मे दोष लगने पर भी घबराने की आवश्यकता नही है कि हाय! मेरे मूलव्रत मे दोष लग गया! दोष लगता है इसी कारण तो आलोचना की जाती है जो वस्त्र मलिन हो गया हो उसी को धोने की आवश्यकता होती है। साफ-सुथरे वस्त्र को धोने की क्या आवश्यकता है? इसी प्रकार दोष लगता है तभी आलोचना का विधान किया गया है।

बचपन मे, जब मैं दीक्षा का उम्मीदवार था, प्राय यह पद गाया करता था—

बाहर भीतर समता राखो, जैन में फैन न खटसी रे,
कायर तो कादा मे खुँचिया, शूरा पार उतरसी रे ॥

हानिया समझाई । भगवान् का उपदेश सुनकर वह सब समझ गये कि निदान करने से हमारी उलटी हानि ही हुई है । हमने तुच्छ चीज के लिए धर्मक्रिया का विक्रय कर डाला है, मगर इस निदान के फलस्वरूप वह चीज मिलेगी ही, यह कौन कह सकता है ?

उन साधुओ और साध्वियो ने मस्तक झुकाकर भगवान् से कहा 'प्रभु ! हमारा उद्धार करो ।'

भगवान् बोले— हे श्रमणो ! और श्रमणियो ! तुम किसी प्रकार का भय मत करो । आलोचना, निन्दा और गर्हा करके की हुई भूल का प्रायश्चित्त करो ता तुम शुद्ध हो जाओगे ।'

वे साधु और साध्विया भगवान् के आदेशानुसार आलोचना, निन्दा और गर्हा करके पवित्र हुए ।

वे साधु और साध्विया तो भगवान् की वाणी सुनकर पवित्र हुए थे । आज भी सूत्र के रूप मे भगवान् विद्यमान है या नही ? उनकी वाणी तो आज भी विद्यमान है । अतएव भगवान् की वाणी सुनकर तुम पवित्र बनो और अपराध की आलोचना, निन्दा तथा गर्हा करके शुद्धि करो ।

श्री वृहत्कल्पसूत्र मे कहा है—

कयाइं पावाइं जेहिं अट्ठात वज्जए ।
तेसिं तित्थयरे वयणेहिं सुहिं अम्हाण कीरउ ।।

यह गाथा वृहत्कल्पसूत्र के भाष्य की हे । इसमे कहा है— मोहकर्म के उदय से जो–जो पापकर्म अर्थात् अनर्थ किये हो, आलोचना करने के लिए वह सब निष्कपटभाव से गुरु के

दोनो प्रकार की आलोचनाएं क्रमश चौकन्नी और छकन्नी कहलाती हैं। आचार्य यदि स्थविर अर्थात् वृद्ध हो तो किसी दूसरे साधु को पास रखने की आवश्यकता नही होती। अगर आचार्य तरुण हो तो पास मे एक साधु रखना आवश्यक है। इस प्रकार दो कान आलोचना करने वाली स्त्री के, दो कान साध्वी के, दो कन आचार्य के और दो कान साधु के होने से आलोचना आठकन्नी कहलाती है।

इस प्रकार की आलोचना गुप्त अपराध के लिए की जाती है। जो अपराध हो उसकी आलोचना प्रकट मे ही करनी चहिए। शास्त्र मे कहा है— दसवें प्रायश्चित्त के अधिकारी को राजा या सेठ वगैरह के पास जाकर कहना चाहिए कि मुझसे अमुक प्रकार का अपराध हुआ है। उसकी शुद्धि के लिए अमुक दिन आलोचना होगी। आप कृपा करके अवश्य पधारें। सब लोगो से इस प्रकार कह भर और नियत समय पर उन सबके आ जने पर अपने मस्तक पर पगडी रखकर गृहस्थ की भाति यह प्रकट करे कि साधु अवस्था मे मुझसे अमुक अपराध हो गया है। इस भाति प्रकट मे आलोचना करे और फिर विधिवत् शुद्ध हो। तात्पर्य यह है कि जो दोष प्रकट हो उसकी आलोचना भी प्रकट में ही करनी चाहिए। अगर किसी श्राविका को साध्वी के पास ही आलोचना करनी हो तो वह चौकन्नी (चतुकर्णी) भी हो सकती है। लेकिन अगर साधु वहा मौजूद हो तो साधु के पास ही आलोचना करनी चाहिए और इस दशा में आलोचना छकन्नी होनी चाहिए। हाँ, आचार्य तरुण हो तो एक साधु को भी साथ रखना चाहिए और इस दशा में आलोचना आठकर्णी होगी।

यो भव रतन चिन्तामणि सरखो, बारम्बार न मिलसो रे,
चेत सके तो चेत रे जीवडा, एवो जोग न मिलसी रे ॥

अर्थात् बाहर और भीतर समता धारण करो। बाहर से तो किसी अन्य अभिप्राय से समता का प्रदर्शन किया जा सकता है लेकिन भीतर समता रखना अत्यन्त ही कठिन है। हम साधु अगर बाहरी समता न रखकर किसी से लडे तो तुम्ही हमे उपालम्भ देने लगोगे। अतएव बाह्य समता तो हमे रखनो ही चाहिए। मगर जैसी समता बाहर रखी जाती है, उसी प्रकार भीतर भी होनी चाहिए। सच्ची समता वही है जो बाहर और भीतर एकसी हो। जो पुरुप बाहर की भाति भीतर भी समता रखता है, वही सच्चा वीर है, दस लाख योद्धाओ को जीतने वाले वीर की अपेक्षा भी आन्तरिक समता धारण करने वाला और सच्चो आलोचना करने वाला बडा वीर है।

आलोचना किसके समक्ष करनी चाहिए, यह भी जान लेना आवश्यक है। आलोचना एक चौकन्नी कही गई है, एक छकन्नी कही गई है और विशेष प्रसग उपस्थित होने पर आठकन्नी भो कही गई है। आठकन्नी से अधिक का विधान शास्त्र मे कही नही मिलता। चौकन्नी आलोचना वह है जिसमे दो कान आलोचना करने वाले के हो और दो कान आलोचना सुनने वाले के हो। जब कोई पुरुष, आचार्य के समक्ष आलोचना करता है तो दो कान उसके अपने होते हैं और दो कान आचाय के होते है। जब आलोचना करने वाली कोई स्त्री हो तो दा कान उस स्त्री के, दो कान आचार्य के और दो कान उस साध्वी के होते हैं जो आलोचना कराने के लिए स्त्री को साथ लाती है। यह

दोनो प्रकार की आलोचनाएँ क्रमश चौकन्नी और छकन्नी कहलाती है। आचार्य यदि स्थविर अर्थात् वृद्ध हो तो किसी दूसरे साधु को पास रखने की आवश्यकता नही होती। अगर आचार्य तरुण हो तो पास मे एक साधु रखना आवश्यक है। इस प्रकार दो कान आलोचना करने वाली स्त्री के, दो कान साध्वी के, दो कान आचार्य के और दो कान साधु के होने से आलोचना आठकन्नी कहलाती है।

इस प्रकार की आलोचना गुप्त अपराध के लिए की जाती है। जो अपराध हो उसकी आलोचना प्रकट मे ही करनी चाहिए। शास्त्र मे कहा है— दसवे प्रायश्चित्त के अधिकारी को राजा या सेठ वगैरह के पास जाकर कहना चाहिए कि मुझसे अमुक प्रकार का अपराध हुआ है। उसकी शुद्धि के लिए अमुक दिन आलोचना होगी। आप कृपा करके अवश्य पधारे। सब लोगो से इस प्रकार कह भर और नियत समय पर उन सबके आ जाने पर अपने मस्तक पर पगडी रखकर गृहस्थ की भाति यह प्रकट करे कि साधु अवस्था मे मुझसे अमुक अपराध हो गया है। इस भाति प्रकट मे आलोचना करे और फिर विधिवत् शुद्ध हो। तात्पर्य यह है कि जो दोष प्रकट हो उसकी आलोचना भी प्रकट में ही करनी चाहिए। अगर किसी श्राविका को साध्वी के पास ही आलोचना करनी हो तो वह चौकन्नी (चतुकर्णी) भी हो सकती है। लेकिन अगर साधु वहा मौजूद हो तो साधु के पास ही आलोचना करनी चाहिए और इस दशा मे आलोचना छकन्नी होनी चाहिए। हाँ, आचार्य तरुण हो तो एक साधु को भी साथ रखना चाहिए और इस दशा में आलोचना आठकर्णी होगी।

कहने का आशय यह है कि आलोचना में सरलता धारण करनी चाहिए। अपने में कोई दोष आ गया हो तो उसे काटे के समान समझकर निकाल देना चाहिए। शरीर मे काटा लग गया हो तो उसे बाहर निकालना चाहिए या अन्दर ही रहने देना चाहिए? काटा तो बाहर ही निकाला जाता है। इसी प्रकार मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्या-दर्शन-शल्य भी आत्मा के काटे के समान है। इस त्रिविध शल्य को आत्मा मे रहने देना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है? किसी भाले की नोंक टूटकर शरीर में घुस जाये तो उसे निकालने मे विलम्ब नही किया जाता, इसी प्रकार इस त्रिविध शल्य को तत्काल बाहर निकाल देना चाहिए। आलोचना द्वारा ही शल्य बाहर निकाले जा सकते हैं। अतएव अकृत्यो को आलोचना करने में भीरुता या काय-रता मत दिखाओ। आज बनिया बनकर जो आघात तुम पीठ पर सहन करते हो, वही आघात वीर बनकर छाती पर सहन करो और अपने पापो का प्रायश्चित्त करो। इसी मे आत्मा का कल्याण है।

भगवान् से यह प्रश्न किया गया था कि आलोचना से क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि आलोचना द्वारा सरलता प्राप्त होती है। भगवान् का यह उत्तर हमें यह शिक्षा देता है कि सच्ची आलो-चना वही है जो सरलतापूर्वक की जाये अथवा जिसके करनें पर सरलता प्रकट हो शास्त्र मे कहा है कि जिस अपराध का दण्ड एक मास का है, उसकी आलोचना निष्कपटभाव से की जाये तो एक ही मास का दण्ड दिया जाता है। लेकिन कपट सहित आलोचना करने पर दो मास का दण्ड

मिलता है । अर्थात् एक मास का दण्ड अपराध का होता है और एक मास का कपट करने का । यह विधान करके शास्त्रकारो ने माया-कपट को महान् अपराध गिना है और इसीलिए भगवान् ने कहा है कि सरलतापूर्वक आलोचना करने वाले मे माया-कपट नही रहेगा ।

ससार मे भ्रमण कराने वाली माया, कपट या अविद्या ही है । कपट ही ससार का बीज है । भगवान् कहते है कि कपट अर्थात् माया के ही प्रताप से जीवो को स्त्रीवेद और नपुसकवेद का बध होता है । जो निष्कपटभाव से आलोचना करेगा और सरलता धारण करेगा उसे इन दोनो वेदो का बध नही होगा । इतना ही नही, कदाचित् स्त्रीवेद या नपुसकवेद का बध पहले हो चुका होगा तो उसकी भी निजरा हो जायेगी ।

कुछ लोग समझते है कि किये हुए कर्म भोगने ही पडते है । यह बात सत्य है, मगर साथ ही शास्त्र यह भी बतलाता है कि सरलता धारण करने से कृत कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है । कर्मों की निर्जरा न हा सकती होती तो मोक्ष का उपदेश वृथा हो जाता ।

कपटहीन होकर अपने पापो की आलोचना करने से क्या लाभ होता है ? इसके लिए टीकाकार ने सग्रह रूप मे जो कथन किया है, उसका आशय यह है कि आलोचना करने से स्त्रीवेद या नपुसकवेद का बध नही होता । यही नही वल्कि पहले के वधे हुए स्त्रीवेद या नपुसकवेद रूप कर्म की निर्जरा भी हो जाती है और साथ ही साथ मोक्ष के विघातक अन्य कर्मो का भी नाश होता है । इस तरह सरलतापूर्वक आलोचना करने का फल महान् है, अतएव सरलता

का महत्व भी वहुत है और यदि सरलतापूर्वक परमात्मा को वदन किया जाये तो आत्मा को परमात्मभाव की भी प्राप्ति होती है । दर्पण में मुख देखना हो तो आवश्यक है कि दर्पण और मुख के बीच कोई व्यवधान न हो । अगर थोडा-सा भी व्यवधान हुआ तो मुँह नही दिख सकता । इसी प्रकार आलोचना करते समय बीच में जरा भी कपट का व्यवधान रखा गया तो वह सच्ची आलोचना नही होगी, एक प्रकार का ढोग होगा । इससे आलोचना का असली लाभ प्राप्त नही किया जा सकता । इसलिए आलोचना कपटरहित ही करनी चाहिए ।

ससार में जो भी कोई आविष्कार देखा जाता है, उसका मूल कारण दुख है । लज्जा का दुख न होता तो वस्त्र का आविष्कार किसलिए होता ? भूख की पीडा न होती तो भोजन के आविष्कार की क्या आवश्यकता थी ? इन व्यावहारिक उदाहरणो के अनुसार यदि आत्मा मे किसी प्रकार की त्रुटि न होती तो आलोचना किसलिए और किसकी की जाती ? मगर आत्मा में किसी प्रकार की त्रुटि है और इसी कारण आलोचना करने की आवश्यकता है । आत्मा मे त्रुटि होना छद्मस्थ आत्मा का स्वभाव है । शास्त्रकारों का कथन है कि उस त्रुटि को दबा कर मत रखो । उसे सरलतापूर्वक बाहर निकालने का प्रयत्न करो । इस तरह त्रुटि दूर करने का प्रयत्न करने से आत्मा की अन्यान्य त्रुटियां भी दूर हो जाएँगी और आत्मा के अध्यवसायो मे ऐसी उज्ज्वलता आएगी कि समस्त कर्म नष्ट हो जाएंगे । अपनी त्रुटिया दूर करने से अपने को तो लाभ है ही, साथ ही अन्य आत्माओ को भी लाभ पहुँचता है । अपनी आत्मा को लाभ

होनें से दूसरी आत्माओ को किस प्रकार लाभ होता है, यह बात दृष्टान्त द्वारा समझिए ।

किसी धनाढ्य सेठ के पुत्र को कोई भयकर रोग हुआ। पुत्र का रोग दूर करने के लिए सेठ ने अनेक वैद्य बुलाए। वैद्यो ने कहा—'ऐसा रोग मिटाने के लिए करोड दवाओ की आवश्यकता है। इन करोडो दवाओ का मूल्य भी करोडों रुपया होगा।' सेठ ने प्रश्न किया—'यह तो ठीक है, परतु थोडी-थोडी होनें पर करोड़ दवाओ का वजन कितना अधिक हो जायेगा ? वैद्यो ने कहा - 'वजन तो अवश्य अधिक हो जायेगा, मगर उस दवा से औरो को भी लाभ पहुँचेगा। आपके पुत्र का रोग नष्ट होने के साथ इस योग के अन्य रोगियो को भी आरोग्यता मिलेगी । हमारे ख्याल से तो आपके पुत्र को यह रोग, अन्य रोगियो का रोग मिटाने के लिए ही आया है।'

वैद्यो का यह कथन सेठ को उचित प्रतीत हुआ। उसने तिजोरी से रुपया निकाल कर दव इयां सग्रह करवाई। उन सब दवाओ से वैद्यो ने एक विशेष दवा तयार की, जिसके सेवन से सेठ का लडका नीरोग हो गया। तदनन्तर सेठ ने घोषषा करवा दी अमुक रोग की दवा हमारे पास मौजूद है। जो इस रोग से ग्रस्त हो, हमसे दवा ले जाय। इस घोषणा से अनेक लोग आकर सेठ से दवा लेने लगे और दवा का सेवन करके रोगमुक्त होने लगे ।

अब आप विचार कीजिए कि सेठ के लडके को रोग हुआ सो यह अच्छा हुआ या बुरा ? वास्तव मे इस सम्बन्ध में एकान्त रूप से कुछ नही कहा जा सकता । मगर उस दवा के सेवन से जो रोगमुक्त हुए थे, उनका कहना था कि

हमारे भाग्य से ही सेठ के लडके को रोग हुआ था। उनका यह कथन सुनकर सेठ क्या कह सकता था ?

इसी प्रकार आत्मा को किसी प्रकार की त्रुटि का रोग हुआ है। भगवान् महावीर महावैद्य के समान हैं। वे आलोचना को ही उस रोग की अमोघ औषधि बतलाते हुए कहते हैं 'हे श्रमणो! हे श्रमणियो! यह औषध ऐसी अमोघ है कि इसके सेवन से तुम रोगमुक्त हो जाओगे। इतना ही नही, किन्तु तुम्हारे साथ दूसरो के भी रोग मिट जाएँगे।' इस प्रकार भगवान् ने हम लोगो को अमोघ औषध बतलाई है। मगर जो औषध का सेवन ही नही करेगा, उसका रोग किस प्रकार मिटेगा ? भगवान् तो त्रिलोकनाथ हैं। वह नरक योनि तक के जीवो का दुख मिटाना चाहते है। इसी उद्देश्य से उन्होने निर्ग्रन्थप्रवचन रूपी औषधि का उपदेश दिया है और कोई उसका सेवन करे या न करे, किन्तु हमे अर्थात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका को तो भगवान् की बतलाई हुई दवा लेनी ही चाहिए। अगर हमने नियमित रूप से दवा का सेवन किया तो हमारा रोग नष्ट हो जायेगा। हमारे रोग के नाश से दूसरो को भी दवा पर विश्वास होगा और वे भी उसका सेवन करके अपने भवभ्रमण का अन्त कर सकेंगे। इस प्रकार आलोचना करने से करने वाले को तो लाभ होता ही है, मगर दूसरो को भी काफी लाभ पहुँचता है।

आलोचना का उद्देश्य क्या है ? आलोचना न करने से क्या हानि होती है ? और आलोचना करने से किस फल की प्राप्ति होती है ? इन सब प्रश्नो का समाधान करने वाली एक गाथा टीकाकार ने उद्धृत की है। वह यह है—

उद्धियदंडो साहू, अचिरं जे सासयं ठाण।
सोवि अणुद्धे दंडो ससारे पवडओ होत्ति॥

अर्थात्—साधुओं के लिए यही उचित है कि उनकी आत्मा मे यदि पापरूपी शल्य हो तो उसे बाहर निकाल दे, फिर चाहे वह मिथ्यात्वशल्य हो, निदानशल्य हो अथवा कषायशल्य हो । इस त्रिविध शल्य मे से कोई भी शल्य घुस गया हो तो उसे बाहर करके नि शल्य हो जाना चाहिये । इस प्रकार निःशल्य हो जाने से थोडे ही समय मे शाश्वत स्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है । इसके विरुद्ध जो साधु निःशल्य नही होता, अपनी आत्मा में पाप रहने देता है और अपने में से दड को बाहर नही कर देता, वह अनन्त ससार की वृद्धि करता है । अतएव जिन्हे ससार से बाहर निकलने की अभिलाषा है, उन्हे अपने पाप प्रकाशित करके, निष्कपटभाव से आलोचना करनी ही चाहिए ।

पाँचवे बोल का वर्णन यहा समाप्त हो रहा है। इस बोल का वर्णन सुनकर हमें क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है। भगवान् कहते है—'मैं तो सभी जीवो का कल्याण चाहता हू किन्तु अपना कल्याण अपने ही हाथ मे है।'

सूर्य प्रकाश देता है और स्पष्ट कर देता है कि यह साप है और यह फूलो की माला है । सूर्य के द्वारा इतना स्पष्टीकरण कर देने पर भी अगर कोई पुरुष साप को ही माला समझकर पकडता है तो इसमे सूर्य का क्या दोष है? इसी प्रकार शास्त्र स्पष्ट बतलाता है कि पापो को आत्मा से अलग कर दो । पापो को बाहर निकालने के लिए यह अपूर्व अवसर हाथ आया है। इस समय भी पापो का परित्याग न किया तो फिर कब करोगे ? शास्त्र के इस स्पष्ट कथन के होते हुये भी अगर कोई अपने पाप नही त्यागता

तो इसमे शास्त्र का क्या दोप है ? कोई पुरुष ऊपर से पवित्रता का ढोग करता है और भीतर पापो को छिपाता या दवाता है तो इसमें शास्त्र का क्या अपराध है ?

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज कई बार कहा करते थे कि आजकल साधुओ मे यह खराबी घुस गई है कि वे ऊपर से तो साफ रहते है मगर भीतर पोल चलाते हैं। इस पद्धति से साधुओ की तथा समाज की बहुत हानि हुई है। आज भी यही देखा जाता है कि कतिपय साधु ऊपर से तो साधुता का सुन्दर स्वाग रचते है मगर भीतर पोल चलाते रहते है । देशनेताओ, समाजसेवको और जातिसेवको में भी कुछ लोग ऐसे देखे जाते है जो बाहर कुछ प्रकट करते हैं और भीतर कुछ और ही करते है । आज तो धममाग मे भी यह। होने लगा है ।

जिस काल मे ऐसा अन्धेर होता है, शास्त्रकार उसे विषमकाल कहते है । ऐसा कोई काल नही है, जिसमे पाप न होते हो, मगर जिस काल म पापो को छिपाने का प्रयत्न नही किया जाता, पाप होने पर प्रकट कर दिये जाते हैं और उनके परित्याग की भावना रहती है उस काल मे चाहे जितने पाप हो फिर भी वह कल्याण का ही काल कहलाता है । अपराव इसी काल में होते है, ऐसी कोई बात नही हैं। पहले भी अपराध होते थे । किन्तु वर्त्तमानकाल और भूतकाल मे अन्तर यह है कि भूतकाल मे अपराध, अपराध समझे जाते थे और उन्हे छिपाया नही जाता था, जब कि वर्त्तमान काल मे अपराधो को प्रकट करने की पद्धति बहुत ही कम दिखाई देती है और पापो एव अपरावो को पाप एव अपराध मानने वाले लोग भी बहुत कम नजर आते हैं।

देश भर मे, चहुँ ओर फैले हुए इस रोग के कारण ही आज विदेशी लोग भारतीयो पर अधिक भरोसा नही करते। इतिहास के अवलोकन से प्रतीत होता है कि भारत में बहुत से ऐसे लोग भी हो गये हैं, जिन्होने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए देशद्रोह तक किया है। अगर ऐसा हुआ तो इसके लिए शास्त्र दोष के पात्र नही है। शास्त्र तो स्पष्ट घोषणा करते है कि सरल बनो, कपट न करो। अपराध के पाप से कपट का पाप कम नहीं वरन् ज्यादा ही है।

सरलता धारण करने से और अपराध को अपराध मानने से कितना लाभ होता है, इस बात के अनेक उदाहरण शास्त्र मे तथा इतिहास मे लिखे है। सती चदनबाला और मृगावती का उदाहरण बहुत ही बोधप्रद है।

सती चन्दनबाला महान् सती मानी जाती है। वह समस्त सतियो मे महती सती थी। इसी प्रकार मृगावती भी वडो सती मानी गई है। इन दोनो सतियो मे पारस्परिक प्रेम भी खूब घना था। फिर भी एक दिन, अनजान मे जब सती मृगावती अकाल मे स्थान से बाहर रह गईं तो सती-शिरोमणि चन्दनबाला ने उनसे कहा—'आप सरीखी बड़ी सती को अकाल मे बाहर रहना शोभा नही देता।' इस प्रकार चन्दनबाला ने मृगावती को मीठा उपालम्भ दिया। मृगावती सोचने लगी—'आज मुझे उपालम्भ सहना पडा!' यद्यपि मृगावती कह सकती थी कि मैं जान-बूझकर बाहर नही रही। मगर उनमे ऐसा विनय था, ऐसी नम्रता थी कि वह ऐसा कह नही सकी। वह विनयपूर्वक खडी रहकर विचार करने लगी—'मुझ मे कितना अज्ञान है कि मेरे कारण मेरी गुराणीजी को इतना कष्ट हुआ। मेरी अपूर्णता और

मेरे अज्ञान के कारण ही यह हुआ है। मुझ में अपूर्णता न होती तो यह प्रसग ही क्यो उपस्थित होता ?'

इस प्रकार अपने अज्ञान का विचार करते-करते सारे ससार का विचार कर डाला कि अज्ञान ने क्या-क्या अनर्थ नही किये हैं ? अज्ञान ने मुझे ससार मे इतना घुमाया है। इस प्रकार अज्ञान की निन्दा और अपनी भूल के पश्चात्ताप के कारण उनमे ऐसे उज्ज्वल भाव का उदय हुआ कि अज्ञान का सर्वथा नाश होगया और केवलज्ञान प्रकट हो गया। केवलज्ञान प्रकट हो जाने पर भी सती मृगावती खडी ही रही। इतने मे उन्होने अपने ज्ञान से देखा कि एक काला साप उसी ओर जा रहा है, जिस ओर महासती चन्दनवाला हाथ को तकिया बनाकर सो रही हैं। हाथ हटा न लिया जाये तो सम्भव है, साप काटे विना नही रहेगा। साप ने काट खाया तो कितना घोर अनर्थ हो जायेगा ! इस प्रकार विचार कर साप का मार्ग रोकने वाला महासती चन्दनवाला का हाथ हटा कर एक ओर कर दिया। हाथ हटते ही चन्दनवाला की आख खुली। आख खुलते ही उन्होने पूछा– 'मेरा हाथ किसने खीचा ?' मृगावती बोली 'क्षमा कीजिए। आपका हाथ मैंने हटाया है।' चन्दनवाला ने फिर पूछा— 'किसलिए हाथ हटाया है ?' मृगावती ने उत्तर दिया–'कारणवश हाथ हटाने से आपकी निद्रा भग हो गई। आप मेरा यह अपराध क्षमा करे।' चन्दनबाला ने कहा— 'तुम अभी तक जाग ही रही हो ?' मृगावती ने उत्तर दिया–'अब निद्रा लेने की आवश्यकता ही नही रही।' चन्दनवाला ने पूछा– 'पर हाथ हटाने का क्या प्रयोजन था ?' मृगावती ने कहा– 'इस ओर से एक काला साप आ रहा था। आपका हाथ

उसके रास्ते में था । सम्भव था वह आपके हाथ मे काट लेता । इसी कारण मैंने आपका हाथ हटा दिया ।' चन्दनबाला ने फिर पूछा—'इस घोर अन्धेरी रात मे, काला सांप तुम्हे कैसे दिखाई दिया ?'-इस अन्धेरी रात मे काला सांप दिखाई देना चर्मचक्षु का काम नही है । क्या तुम्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है ?' मृगावती ने उत्तर दिया—'यह सब आपका ही प्रताप है ।'

सती मृगावती मे कितना विनय और कैसा उज्ज्वलतर भाव था । परिश्रम तो आज भी किया जाता है, मगर उसकी दिशा उलटी है । अर्थात् अपने अपराध छिपाने के लिए परिश्रम किया जाता है । मृगावती जान बूझकर अपने स्थान से बाहर नही रही थी । अनजान मे बाहर रह जाने पर भी अपने को अपराधी मानना कितनी सरलता है ।

सती मृगावती को केवलज्ञान हुआ है, यह जानकर चन्दनबाला पश्चात्ताप करने लगी । उन्होंने सोचा 'मैंने ऐसी उत्कृष्ट सती को उपालम्भ दिया और केवली की भी आसातना की । मुझमे यह बडा अपराध बन गया है । मैं अपना अपराध तो देखती नही, दूसरो को उपालम्भ देती हैं ।' इस प्रकार पश्चात्ताप करती हुई सती चन्दनबाला ने मृगावती से कहा—'मैंने आपकी अवज्ञा की है और मेरे कारण आपको कष्ट पहुँचा है। मेरा यह अपराध आप क्षमा करे । जब मैं अपना ही अपराध नही देख सकती तो दूसरो को किस बिरते पर उपालम्भ दे सकती हू ?' मृगावती ने कहा—आपने मुझे जो उपालम्भ दिया उसी का तो यह प्रताप है । फिर अनन्तज्ञान प्रकट हो जाने पर भी गुरु-गुरानी का विनय तो करना ही चाहिए। अतएव आप किसी प्रकार

का पश्चात्ताप न मेरे । हां, मेरे कारण आपको जो कष्ट हुआ है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए ।'

चन्दनबाला विचारने लगी—इस तरह का उपालम्भ मैंने न जाने किसे-किसे दिया होगा ! अज्ञान के कारण ऐसे अनेक अपराध मुझसे हुए होगे । मेने अपना अपराध तो देखा नही और दूसरों को ही उपालम्भ देने के लिए तैयार हो गई । चन्दनबाला इस प्रकार आत्मनिन्दा करने लगी । आत्मनिन्दा करते-करते उन्हे भी केवलज्ञान प्रकट हो गया ।

कहने का आशय यह है कि सरलता धारण करने से और अपने पापो का गम्भीर विचार करने से आत्मा नवीन कर्मों का बन्ध नही करता, वरन् पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट कर डालता है । भगवान् ने कहा है –आलोचना करने से स्त्री-वेद और नपुसकवेद का बन्ध नही होता । अगर इन वेदो का पहले बन्ध हो गया हो तो उन कर्मो की निर्जरा हो जाती है । ऐसा होने पर भी हमे आलोचना के द्वारा पुरुष-वेद के बन्ध की कामना नही करना चाहिये । हमारा एक-मात्र उद्देश्य समस्त कर्मो का क्षय करना ही होना चाहिए ।

छठा बोल

आत्मनिन्दा

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २९ वे अध्ययन के पाँचवे बोल – आलोचना के विषय में विचार किया जा चुका है। शास्त्र में शिष्य ने प्रश्न पूछे हैं और भगवान् ने उनका उत्तर दिया है। यद्यपि यह प्रश्नोत्तरी गुरु-शिष्य के बीच हुई है, फिर भी यह सकल ससार के लिए हितकर है। अतएव इस प्रश्नोत्तरो पर ध्यान देना आवश्यक है।

आलोचना की सफलता आत्मनिन्दा पर निर्भर है। आलोचना आत्मनिन्दापूर्वक ही होनी चाहिए। इसी कारण शिष्य ने आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा के विषय में प्रश्न पूछा है। प्रश्न इस प्रकार है:—

प्रश्न— निंदणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— निंदणयाए णं पच्छाणुतावं जणेइ, पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढि पडिवज्जइ, करणगुणसेढिपडिवन्ने य अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ ॥ ६॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भंते ! आत्मनिन्दा से जीव क्या पाता है ?

उत्तर— आत्मदोषो की निन्दा पश्चात्ताप की भट्ठी सुलगाती है। पश्चात्ताप की भट्ठी मे दोष भस्म हो जाते है

और वैराग्य का उदय होता है। ऐसा विरक्त पुरुष अपूर्वकरण की श्रेणी (क्षपकश्रेणी) प्राप्त करता है और वह श्रेणी प्राप्त करने वाला अनगार मोहनीयकर्म का क्षय करता है।

—: व्याख्यान :—

आलोचना के विषय में प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् निंदा के विषय में प्रश्नोत्तर किस अभिप्राय से किया गया है? इस विषय मे टीकाकार कहते हैं कि आलोचना के अनन्तर आत्मनिन्दा करनी ही चाहिए, क्योंकि आत्मनिन्दा करने से ही आलोचना सफल होती है। सच्ची बात वही मानी जाती है जो आत्मनिन्दापूर्वक की गई हो।

ज्ञानीपुरुषों का कथन है कि जो शक्ति पराई निन्दा में खर्च करते हो, वह आत्मनिन्दा में ही क्यों नही लगाते? आत्मनिन्दा के बिना की जाने वाली आलोचना, ढोंग के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। ऐसी आलोचना में पोल रहती है और एक न एक दिन पोल खुले बिना नही रह सकती। अतएव आलोचना के साथ आत्मनिन्दा भी करनी चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—जब आत्मा ने किसी प्रकार का कुकृत्य किया हो तो आत्मा की निन्दा करना उचित है। अगर कोई कुकृत्य ही न किया हो तो आत्मनिन्दा की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए टीकाकार कहते हैं—कोई पूर्ण पुरुष ही ऐसा हो सकता है जिसने किसी भी प्रकार का अपराध या दुष्कृत्य न किया हो। छद्मस्थ पुरुष से तो किसी न किसी प्रकार का अपराध हो ही जाता है। अतएव उस अपराध को छिपाने का प्रयत्न न करते हुए

आत्मनिन्दा के द्वारा उसे दूर करना चाहिए । यद्यपि मूल-पाठ मे सिर्फ निन्दा-शब्द का प्रयोग किया गया है, तथापि उसका अभिप्राय यहा आत्मनिन्दा करना ही है । परनिन्दा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है ।

शिष्य ने भगवान् से प्रश्न किया—आत्मनिन्दा करने से जीव को क्या फल मिलता है ? किसी भी कार्य का निर्णय उसके फल से ही होता है । आम और एरड के वृक्ष में फल की भिन्नता से भेद किया जाता है । अतएव यहा यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मनिन्दा करने से किस फल का लाभ होता है ? फल पर विचार करने से यह भी ज्ञात हो जायेगा कि आत्मनिन्दा करना उचित है या नही ? इसी अभिप्राय से शिष्य ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि आत्मनिन्दा करने से क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—आत्मनिन्दा करने से 'मैंने यह खराब काम किया है' इस प्रकार का पश्चात्ताप होता है ।

पश्चात्ताप करने मे लोगो को यह भय रहता है कि मै दूसरो के सामने हल्का या तुच्छ गिना जाऊँगा । मगर इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना पतन का कारण है । सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की जायेगी तो 'मैंने अमुक दुष्कृत्य किया है अथवा मैंने अमुक पाप छिपाया है' इस प्रकार का विचार आये विना रह ही नही सकता । ऐसा करने से आत्मा मे अपने दोषो को प्रकट करने का सामर्थ्य आता है और अपने पापो को छिपा रखने की दुर्बलता दूर होती है ।

जैसे दर्पण मे अपना मुख देखते हो, उसी प्रकार अपनी आत्मा को देखो तो विदित हो जायेगा कि आत्मा मे कितनी और किस प्रकार की त्रुटिया विद्यमान हैं ? दर्पण में मुख

देखने मे तो भूल नही होती परन्तु आत्मनिन्दा करने में भूल हो जाती है। आत्मा अपनी निन्दा न करके परनिन्दा करने को उद्यत हो जाता है। जब तुम्हारे अन्तकरण मे निन्दा करने की प्रवृत्ति है तो फिर उसका उपयोग आत्मनिन्दा करके निर्दोष और निरपराध बनने मे क्यो नही करते? परनिंदा करके अपने दोषो की वृद्धि क्यो करते हो? जब दुर्गुण ही देखते हैं तो अपने ही दुर्गुण क्यो नही देखते? और उन्ही दुर्गुणो की निंदा क्यो नही करते? अपनी त्रुटिया दूर करने के लिए हमारे सामने क्या आदर्श है, यह बतलाने के लिए कहा गया है कि–

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कार्यमन्यद् दुरात्मनाम् ।
मनस्येक वचस्येकं काय एक महात्मनाम् ॥

अर्थात्–दुरात्मा अपने मन की वचन की और कार्य की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न रखता है अर्थात् उसके मन में कुछ होता है, वचन से कुछ कहता है और कार्य कुछ और ही करता है। किन्तु महात्मा पुरुषो के मन, वचन और काय मे एक ही बात होती है।

आत्मनिन्दा करने मे इस नीतिवाक्य को आदर्श मानकर विचार करो कि मैं जिह्वा से जो कुछ कहता हू वह मेरे कार्य के अनुसार है या नही? ऐसा तो नही है कि मैं कहता कुछ और करता कुछ और हूं? गिनती मे कोई भूल नही होती। तुम पाच और पाँच का योग दस ही कहते हो– नौ या ग्यारह नही। इसी प्रकार समस्त ससार में यदि सत्य का ही व्यवहार हो तो कोई झगड़ा ही न रहे लेकिन होता कुछ और ही है। जब दूसरे को ठगना होता है तो सत्यमय व्यवहार नही किया जाता। वहा कहना और करना अलग-अलग हो जाता है। साप के दो जिह्वाएं होती

है । उसे 'द्विजिह्व' कहते है। इसी आधार पर दो जीभ वाले साप कहलाते हैं और साप विषैला समझा जाता है । किन्तु मनुष्य के एक ही जीभ होती है। अतएव मनुष्य में दोहरी प्रवृत्ति होना उचित नही है । वाणी तथा कार्य की एकता ही मनुष्यता का प्रमाण है । जो व्यक्ति वाणी और कार्य के बीच का अन्तर समझेगा वह आत्मसुधार की दृष्टि से आत्म-निन्दा ही करेगा । वह परनिन्दा करने की खटपट मे नही पडेगा ।

वाणी और कार्य की तुलना करने के साथ मन और कार्य की भी तुलना करो और साथ ही साथ मन तथा वचन की भी तुलना करो। मन का भाव जुदा रखना और कार्य जुदा करना स्थानागसूत्र के कथनानुसार विष के घडे को अमृत के ढक्कन से ढँकने के समान है । ऐसा करना ससार को धोखा देना है । मन एव वचन मे कुछ और होना और कार्य कुछ और करना आत्मा की बडी दुर्बलता है । आत्मा के कल्याण के लिए यह दुर्बलता दूर करनी ही जाहिए ।

वास्तव मे होना यह चाहिए कि मन, वचन और काय की प्रवृत्ति मे किसी प्रकार का अन्तर न रहे । मगर आज तो उलटी ही सीख दी जाती है कि काय से चाहे जो पाप करो पर वचन मे सफाई रखो और यदि दूसरो को धोखा देने की यह कला तुमने सीख ली तो बस मौज करोगे ! किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाये तो ऐसा करने मे मौज नही है—आत्मा का पतन है । ज्ञानीजनो का कथन है कि बोलना कुछ, करना कुछ और सोचना कुछ, यह सब प्रवृत्तियां आत्मा को पतित करने वाली है । अगर आत्मा उत्थान की इच्छा है तो इन प्रवृत्तियो से दूर ही रहो

धृतराष्ट्र ने अपने अन्तिम समय में, कुन्ती के सामने आलोचना करके अपने पापो की शुद्धि की थी। उस आलोचना के सबध मे विचार करने से एक नई बात सामने आती है। अपने पापो की आलोचना करते हुए धृतराष्ट्र ने सजय से कहा—'हम लोग जब वन में भ्रमण कर रहे थे तो एक ऐसा अन्धकूप हमे मिला था जो ऊपर से घास से ढका था। उस अन्धकूप को खराब कहा जाये या अपने आपको खराब कहा जाये ? मेरा सम्पूर्ण जीवन लोगो को, अन्धकूप की भाति, भ्रम में डालने मे व्यतीत हुआ है। मैं ऊपर से तो पाँडवो की भलाई चाहता था और शास्त्रविधि के अनुसार उन्हें आशीर्वाद भी देता था, मगर हृदय मे यही था कि पाड़वों का नाश हो और मेरे ही बेटे राज्य करे।'

तुम्हारा व्यवहार तो धृतराष्ट्र के समान नही है ? धृतराष्ट्र की कूटनीति ने कितनी भयकर हानि पहुँचाई थी, यह कौन नही जानता ? उसकी कूटनीति के कारण ही महाभारत सग्राम हुआ था, जिसमे अठारह अक्षौहिणी सेनाओ का बलिदान हुआ था, अनेक तरुणिया विधवा हो गई थी और अनेक बालक अनाथ बन गये थे, व्यापार चौपट हो गया था और चारो ओर चोर-डाकुओ का महान् उपद्रव मच गया था। धृतराष्ट्र ने कहा—यह सब अनर्थ मेरी ही कलुषित बुद्धि के कारण हुए है। मेरी बुद्धि में कलुषता न होती तो यह अनर्थ भी न होते। साधारण मनुष्य के पाप का फल उसी तक सीमित रहता है मगर महान् पुरुष के पापो का फल सारे समाज और देश को भुगतना पड़ता है। इस नियम के अनुसार मेरे पापो का फल भी सर्वसाधारण को भोगना पडा है। मेरे हृदय में सदैव यह दुर्भावना बनी

रही कि किसी तरह पाण्डवों का नाश हो और मेरे पुत्र निष्कण्टक राज्य भोगे। मैं पाण्डवो की अभिवृद्धि फूटी आँखों से भी नही देख सकता था। मैंने पाण्डवो को जो कुछ दिया, वह बहुत थोडा था, फिर भी पाण्डवो ने अपने पराक्रम से, लोकमत अनुकूल करके उसमें बहुत वृद्धि कर ली थी। पाडवों की इस अभिवृद्धि से मुझे प्रसन्न होना चाहिए था। मगर मेरे दिल में तो द्वेष का दावानल दीप्त हो रहा था। मैं उनका अभ्युदय नही देख सका। मैं अपने जिन पुत्रों को राज्य देने के लिए पाण्डवो का नाश चाहता था, मेरे वह पुत्र भी ऐसे थे कि राज्य के लिए उन्होंने भीम को विष खिला दिया था, और पाण्डवो को भस्म कर डालने के लिए लाक्षागृह बनाया था। यह सब मायाजाल रचने के उपलक्ष्य मे मैंने अपने पुत्रों की थोडी निन्दा की थी, लेकिन भावना मेरी भी यही थी कि किसी भी उपाय से पाडवो का नाश हो जाये। इस प्रकार मैं हृदय से पाडवो का अहित ही चाहता था, तथापि भीष्म, द्रोणाचार्य तथा अन्य सज्जनो के समक्ष मेरी निन्दा न हो और मैं नीच न गिना जाऊँ, इस विचार से प्रेरित होकर कपटक्रिया करता रहता था। अगर मैं कपटक्रिया से बचा होता और निष्कपट व्यवहार किया होता तो आज मुझे पुत्रनाश का दुस्सह दुख न देखना पड़ता।'

धृतराष्ट्र का इस प्रकार का पश्चात्ताप और उस पश्चात्ताप का विवरण ग्रन्थो मे सुरक्षित रहना जगत् के हित के लिए उपयोगी प्रतीत होता है। धृतराष्ट्र कहते है—'मैं पहले समझ सका होता कि मेरी इस कपटक्रिया का यह भयंकर परिणाम होगा तो मैं इस भीषण पाप से बच गया होता। हे दुर्योधन! तेरे ही पाप के कारण भीम ने तेरा संहार किया

है । निष्पापा पतिव्रता गाँधारी ने बार-बार मुझसे कहा था कि दुर्योधन का त्याग कर दो। जब जूआ आरम्भ हुआ तभी गाधारी ने उग्रतापूर्वक मुझसे कहा था—'इस पापी दुर्योधन का परित्याग कर दो, अन्यथा उसके कारण कदाचित् कुल का भी सहार हो जायेगा।' मगर पुत्रस्नेह के वश होकर मैंने उसकी बात नही मानी। पुत्र के प्रति अनुचित स्नेह—मोह रखने का यह परिणाम आया है कि आज कुल का सहार हो गया और पुत्र-वियोग की वेदना भोगनी पडी!'

इस घटना का उल्लेख करने का आशय यह बतलाना है कि पाप को छिपा रखने से अन्त मे कितना दुष्परिणाम होता है! यह बात ध्यान मे रखकर पाप को दबाने की चेष्टा मत करो। उसे तत्काल प्रकाश मे ले आओ।

सिख अर्गन होते चाह चली, खर कूकन की धिक्कार उसे,
जिन खाय के अमृत वाछ रही, लीद पशुअन की धिक्कार उसे।
जिन पाय के राज की आश रही चक्की चाटन की धिक्कार उसे,
जिन पाय के ज्ञान की आश रही जग विषयन की धिक्कार उसे।

इस कविता मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है, वे दूसरे के बोधक है। मगर हमारे लिए विचारणीय यह है कि मधुर वाद्य की मनोहारिणी ध्वनि यदि कर्णगोचर होती हो तो उसे छोडकर गधे की कर्ण कटुक आवाज सुनने की इच्छा करने वाले को धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार जो पुरुष अपने पाप छिपाता है तथा सुकृत करने की शक्ति और योग्य अवसर पा करके भी दुष्कृत करता है, उसके लिए धिक्कार के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? इसके अतिरिक्त जो अपनी आत्मा की निन्दा नही करता और परनिन्दा के लिए कमर कसे रहता

है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है । जो पुरुष अमृत के समान भोजन का त्याग करके गधे की लीद खाने दौडता है, उसे भी धिक्कार ही दिया जा सकता है । मतलब यह है कि आत्मनिन्दा अमृतमय भोजन के समान है और पराई निन्दा करना गधे की लीद के समान है। तुम्हारे पास आत्मनिन्दारूपी अमृतमय भोजन है तो फिर परनिन्दा-रूपी गधे की लीद खाने के लिए क्यो दौडते हो ? अपनी आत्मा को न देखना और दूसरों की निन्दा करना एक भयानक भूल है ।

कवि कहता है—किसी पुरुष को चक्रवर्ती की कृपा से राज्य मिल गया हो, फिर भी वह अगर चक्की चाटने की इच्छा करता है तो उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाये ? क्योकि चक्की चाटने का स्वभाव तो कुत्तो का है । कवि के इस कथन को लक्ष्य मे रखकर आप अपने विषय मे विचार करे कि आपकी आत्मा तो ऐसी भूल नही कर रही है ? न जाने किस प्रबल पुण्य के उदय से आपको चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष से भी अधिक मूल्यवान् मानव-शरीर मिला है । चिन्तामणि, कामधेनु या कल्पवृक्ष तो मिल जाये मगर मनुष्य-शरीर न मिले तो यह सब चीजें किस काम की ? ऐसा उत्तम मानव जन्म पा करके भी जो आत्मनिन्दा करने के बदले परनिन्दा मे प्रवृत्त होते है, उनका कार्य राज्य मिलने पर भी चक्की चाटने के समान है ।

आत्मनिन्दा द्वारा सब तरह का सुधार हो सकता है। पाप खराब है, इसलिए पाप की निन्दा की जाती है, मगर जिस पाप को तुम खराब मानते हो और जो वास्तव मे ही खराब है अथवा जिस पाप के कारण तुम पराई निदा करते

हो, वह पाप तुम्हारे भीतर तो नही है ? उदाहरणार्थ–हराम-खोरी करना खराव काम है । अतएव एक आदमी दूसरे को हरामखोर कहकर धिक्कारता है । मगर उस धिक्कार देने वाले को देखना चाहिए कि मुझमे भी तो यही बुराई नही है ? अगर खुद मे यह वुराई है तो अपनी वुराई की ओर से आख फेर कर दूसरे की ही वुराई क्यो देखी जाये ? कदाचित् दूसरे की निन्दा करके तुम अपनी मित्रमण्डली मे भले आदमी कहला लोगे, परन्तु ज्ञानीजन तो वास्तविक वात के सिवाय और कोई वात अच्छी नही समझते। अत-एव उनके सामने परनिन्दा करके तुम भले नही कहला सकते ।

कवि अन्त में यही कहता है कि जो व्यक्ति स्वय वुरा होते हुए भी दूसरों की निन्दा करके अपने आपको भला सिद्ध करने की चेष्टा करता है, उसे धिक्कार देने के सिवाय और क्या कहा जाये ? जो अपने को ज्ञानी कहलाकर भी विपयो की आशा रखता है, वह अज्ञानियों से भी अधिक खराव है ।

ऊपर कही हुई वातें भलीभाति समझ लेने से आत्म-निन्दा की भावना जागृत होगी और जव आत्मनिन्दा की भावना जागृत होगी तो पापो के लिए पश्चात्ताप भी होगा। भक्तजन आत्मनिन्दा करने मे किसी प्रकार का सकोच नही करते । वे स्पप्ट शब्दो मे घोपणा कर देते है :—

हे प्रभु ! हे प्रभु ! शूँ कहूं, दीनानाथ दयाल ।
हुँ तो दोप अनन्तनुं, भाजन छुं करुणाल ।।

अर्थात्—हे भगवान् ! मैं अपने दोपो का कहा तक

वर्णन करूँ! अनजान मे मैंने बहुतेरे दोष किये हैं। उनकी बात ही अलग है। मगर जान-बूझकर जो दोष किये है और जिनको मै निन्दा भी करता हू, वही दोष फिर करने लगता हूं। मैं दूसरे के दोष आख पसार कर देखने को तत्पर रहता हू, मगर अपने पहाड से दोषो को भी देखने की आवश्यकता नही समझता। मेरी यह स्थिति कितनी दयनीय है।

राजनीति, तथा धार्मिक एव सामाजिक व्यवहार मे अगर अपने दोष देखने की पद्धति स्वीकार की जाये तो आत्मा का कितना कल्याण हो? मगर आजकल क्या दिखाई देता है? मजिस्ट्रेट डेढ रुपया चुराने वाले को सजा देता है और स्वय हजारो रुपया चोरी से हजम कर जाता है। अगर वह अपनी ओर आंख उठाकर देखे तो उसे विदित होगा कि उसका कार्य कितना अनुचित है। जब मनुष्य अपने कार्य का अनौचित्य सोचता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नही रहता।

भक्तजन अपने दोष परमात्मा के समक्ष नग्न रूप मे प्रकट कर देते है। वे कहते हैं—'प्रभो! मैं अनन्त पातको का पात्र हू।' इस प्रकार अपने पापो के प्रकाशन से आत्मा पाप-भार से हल्का हो जाता है। आत्मनिन्दा के द्वारा आत्मा जब निष्पाप बन जाता है तो उसे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। हा, पाप को दबाने का परिणाम बड़ा ही भयकर होता है। दबाये हुए पाप का परिणाम किस प्रकार भयकर होता है, यह बात धृतराष्ट्र की आलोचना से सहज ही समझी जा सकती है।

आत्मनिन्दा करने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—आत्मनिन्दा करने का फल

तो प्रत्यक्ष ही है। आत्मनिन्दा करने वाले के अन्तःकरण मे पश्चात्ताप पैदा होता है कि—'हाय! मुझमे यह दुष्कृत्य बन गया!

पश्चात्ताप ही आत्मनिन्दा की सच्ची पहचान है। जब पश्चात्ताप हो तो समझना चाहिए कि सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा की गई है। जिन्हे दुष्कृत्यो के प्रति अनुराग होगा, उनके हृदय मे पश्चात्ताप न होना स्वाभाविक ही है और जिन्हे पश्चात्ताप नही होता, कहना चाहिए कि उन्होने वास्तव में आत्मनिन्दा ही नही की है।

पश्चात्ताप करने से क्या लाभ है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—पश्चात्ताप से वैराग्य उत्पन्न होता है और जब वैराग्य उत्पन्न होता है तो हृदय मे सासारिक पदार्थों का महत्व नही रहता। सासारिक पदार्थों के प्रति ममता न होना पश्चात्ताप का लक्षण है। जब यह ममता हट जाये तो समझना चाहिए कि हृदय मे सच्चा पश्चात्ताप हुआ है।

जो वस्तु एक बार सच्चे हृदय से खराब मान ली जाती है, उसके प्रति फिर रुचि नही होती। उदाहरणार्थ—तुम्हारे सामने भांति-भांति का भोजन आया। मगर उसी समय किसी ने तुम्हे भोजन में विष होने की सूचना दी। क्या इस अवस्था मे उस भोजन के प्रति आपकी रुचि दौड़ेगी? ठीक इसी प्रकार जब वास्तविकता का ज्ञान होता है और विवेक जागृत होता है तब ससार के किसी भी पदार्थ की ओर रुचि नही दौड सकती। जब तक विवेक जागृत नही हुआ है, तभी तक सासारिक पदार्थों की ओर रुचि जाती है। विवेक होने पर वही पदार्थ दु.खरूप दिखाई देने लगते

हैं। कहा भी है—'दु.खमेव सर्वं विवेकिन.।' अर्थात् विवेकी पुरुष के लिए ससार के समस्त पदार्थ दु खरूप ही प्रतीत होते हैं।

प्रश्न किया जा सकता है-प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से यह प्रतीत नही होता कि सासारिक पदार्थ दु खरूप हैं। ऐसी स्थिति में उन्हे दु खरूप किस प्रकार माना जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ससार के जो पदार्थ एक जगह सुखदायक है, वही दूसरी जगह दु.खप्रद मालूम होते है। यह बात ध्यान मे रखते हुए विवेक के साथ विचार किया जाये तो आत्मा को सासारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नही रह सकता। सासारिक पदार्थ एक जगह सुखदायक होते हुए भी दूसरी जगह दु.खजनक हैं, यह बात सिद्ध करने की अ वश्यकता नही है। ऊन की बारीक और मुलायम शाल उत्तम श्रेणी की मानी जाती है, परन्तु उसी ऊन का एक बारीक तन्तु यदि आँख मे पड़ जाये तो कैसा लगता है? जिस ऊन का तन्तु शरीर पर सुखद मालूम होता था, वही आख मे पड़ कर घोर वेदना उत्पन्न करता है। यही हाल अन्य वस्तुओ का है। इसीलिए ससार के पदार्थ दु खजनक कहे गये हैं। ससार के पदार्थ यदि सचमुच ही सुखद होते तो किसी भी ममय और किसी भी अवस्था मे दुखदायी न होते। मगर बात ऐसी नही है। अतएव स्पष्ट है कि साँसारिक पदार्थ सुखकर नही दु खदायक है।

ससार के पदाथो मे सुख नही है तो सुख क्या है, कहा है और किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तविक सुख वह है जो कभी दु.ख रूप परिणत न हो। जिसमे से कभी दु.ख के अकुर नही फूट सकते, वही सच्चा सुख है। एक अवस्था मे सुख-

रूप और दूसरी अवस्था में दुःखरूप प्रतीत होने वाला सच्चा सुख नहीं है। भूख लगने पर लड्डू मीठा और रुचिकर लगता है, किन्तु भूख शान्त होने के पश्चात् वही लड्डू मुसीबत बन जाते हैं। लड्डू एक समय रुचिकर और दूसरे समय अरुचिकर क्यों लगते हैं? लड्डू अगर दुःखरूप प्रतीत होने लगते है तो उन्हे सुखरूप कैसे कहा जा सकता है? इस उदाहरण पर विचार करके मानना चाहिए कि विषयजन्य सुख, सुख नहीं सुखाभास है।

एक आदमी भोजन करने बैठा है। प्रिय और मधुर पकवानों से सजा हुआ थाल उसके सामने है। सुन्दरी पत्नी सामने बैठ कर पखा झल रही है। इसी समय उसके मुनीम ने आकर समाचार दिया—परदेश मे आपके पुत्र की मृत्यु हो गई है। इस स्थिति मे वह भोजन विष के समान प्रतीत हो और आखो से आसू बहे, यह स्वाभाविक है। अब विचार कीजिए कि भोजन और भामिनी में अगर सुख होता तो वे उस समय दुःखरूप क्यो प्रतीत होने लगते? जब कि वह दुःखरूप प्रतीत होते है तो उन्हे सुखरूप कैसे माना जा सकता है?

इस प्रकार ससार के किसी भी पदार्थ मे सुख नहीं है। सासारिक पदार्थों मे जो सुख प्रतीत होता है वह विकारी सुख है, अविकारी सुख नहीं। अविकारी सुख तो सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे ही है। इस सुख की प्राप्ति उसी समय होती है जब सासारिक पदार्थों के प्रति वैराग्य पैदा हो जाये। यह सुख प्राप्त होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता। अतएव सच्चे हृदय से आत्मनिन्दा करो, जिससे पश्चात्ताप हो, पश्चात्ताप से वैराग्य हो और वैराग्य

से सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सच्चे सुख की प्राप्ति हो।

जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही देखना और मानना सम्यग्ज्ञान का अर्थ है। हिसा को हिसा मानना और अहिसा को अहिसा समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए हिसा और अहिसा का स्वरूप तथा इन दोनो के भेद समझने आवश्यक है। ऐसा करने से ही हिसा को हिसा और अहिसा को अहिसा माना जा सकता है। यहा अहिसा के सबध मे कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'अहिसा' शब्द 'अ' तथा 'हिसा' के सयोग से बना है। व्याकरण के नियमानुसार यहा नञ् समास किया गया है। जहा नञ् समास होता है वहा कही-कही पूर्व पदार्थ को प्रधान बनाया जाता है, मगर 'अहिसा' शब्द मे पूर्व पदार्थ प्रधान नही हो सकता। जैसे 'अमक्षिक' पद मे पूर्व पदार्थ प्रधान है। पूर्व पदार्थ प्रधान होने के कारण 'अमक्षिक' पद से मक्खी का अभाव प्रतीत होता है। 'अहिसा' पद मे भी यदि पूर्व पदार्थ की प्रधानता मानी जाये तो अहिसा का अर्थ 'हिसा का अभाव' होगा। लेकिन इस अभाव से किसी वस्तु की सिद्धि नही होती। अतएव 'अहिसा' पद को पूर्व पदार्थ प्रधान नही माना जा सकता।

नञ् समास मे कही-कही उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती है। जैसे 'अराजपुरुष' पद मे उत्तर पद की प्रधानता है। अतएव 'अराजपुरुष' कहने से यह जाना जा सकता है कि राजपुरुष से भिन्न कोई और मनुष्य है। 'अहिसा' शब्द को अगर उत्तर पद-प्रधान माना जाये तो एक हिसा से भिन्न किसी दूसरी हिसा का बोध होगा जैसे कि 'अराजपुरुष'

कहने से राजपुरुप से भिन्न पुरुष का वोध होता है। 'अहिसा' पद को उत्तर पद-प्रधान मानकर उसमे किसी दूसरी हिसा का ग्रहण करना उचित नही है, क्योकि हिसा चाहे कोई भी क्यो न हो, कल्याणकर नही हो सकती। शास्त्रकार अहिसा को ही कल्याणकारिणी मानते है। ऐसी दशा मे अहिसा शब्द का 'दूसरे प्रकार की हिसा' अर्थ नही माना जा सकता। इस प्रकार 'अहिसा' शब्द मे उत्तर पद की प्रधानता भी नही मानी जा सकती।

नञ् समास मे कही-कही अन्य पदार्थ की प्रधानता भी देखी जाती है। जैसे— 'अगोष्पद' शब्द मे अन्य पदार्थ की प्रधानता है। 'अगोष्पद' शब्द कहने से 'जहा गाय का पैर न हो ऐसा वन या प्रदेश' अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार 'अगोष्पद' शब्द मे अन्य पदार्थ (वन-प्रदेश) की प्रधानता है। अगर अहिसा शब्द मे अन्य पदार्थ की प्रधानता मानी जाये तो 'अहिसा' का अर्थ होगा—ऐसा मनुष्य जिसमें हिसा नही है।' अर्थात् जिस पुरुप मे हिसा नही है वह पुरुष 'अहिसा' कहलाएगा। परन्तु पुरुप द्रव्य है, क्रिया-विशेप नही है और अहिसा क्रियाविशेष है। अहिसा व्रतरूप है परन्तु पुरुष व्रतरूप नही हो सकता। अतएव 'अहिसा' मे अन्य पुरुप की प्रधानता मानना भी युक्तिसंगत नही है।

नञ् समास मे कही-कही 'उत्तर पदार्थ का विरोधी' ऐसा अर्थ भी होता है। जैसे 'अमित्र' शब्द मे उत्तर पदार्थ का विरोधी अर्थ है। 'अमित्र' शब्द से मित्र का विरोधी अर्थात् शत्रु अर्थ प्रतीत होता है। 'अहिसा' शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार—उत्तर पदार्थ का विरोधी करना चाहिए। अर्थात् यह मानना चाहिए कि जो हिसा का विरोधी हो, वह अहिसा

है । इस प्रकार अहिंसा का अर्थ करने से पूर्वोक्त दोषो मे से कोई दोष नही आता । अतः अहिसा का अर्थ हिंसा-विरोधी-रक्षा अर्थ करना युक्तिसगत और शास्त्रानुकूल प्रतीत होता है । विद्वानो ने नञ् समास के छह अर्थ बतलाये हैं। उनका कहना है—

तत्सादृश्यमभावश्य तदन्यत्व तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्त्तिताः ॥

अर्थात्—नञ् के छह अर्थ है। उनमे पहला अर्थ है—तत्सादृश्य—उसी जैसा । यथा 'अब्राह्मण' कहने से ब्राह्मण के समान क्षत्रिय आदि अर्थ होता है, पत्थर आदि अर्थ नही हो सकता ।

नञ् का दूसरा अर्थ 'अभाव' है । जैसे 'अमक्षिका' कहने का अर्थ 'मक्खी का अभाव' होता है ।

नञ् का तीसरा अर्थ 'तदन्यत्व' अर्थात् 'उससे भिन्न' है । जैसे—'अनश्व' कहने से घोडे से भिन्न दूसरा (गधा आदि) अर्थ समझा जाता है ।

नञ् का चौथा अर्थ 'तदल्पता' अर्थात् 'कमी' होता है । जैसे—'अनुदरा कन्या ।' 'अनुदरा कन्या' का सामान्य अर्थ है—बिना पेट की कन्या । परन्तु बिना पेट का कोई भी मनुष्य नही हो सकता, अतएव 'अनुदरा कन्या' कहने का अर्थ होगा 'छोटे पेट वाली कन्या ।' यहाँ 'अनुदरा' शब्द पेट का अभाव नही बतलाता वरन् उदर की अल्पता बतलाता है ।

नञ् का पाचवा अर्थ है—अप्रशस्तता । जैसे—'अप-शवोऽन्येऽगोऽश्वेभ्य' अर्थात् 'गाय और घोडा के सिवाय अन्य

जानवर अपशु हैं।' इस कथन का अर्थ यह नही है कि गाय और घोडा के सिवाय अन्य जानवरो मे पशुत्व का अभाव है। इस कथन का सही अर्थ यह है कि अन्य जानवर उत्तम पशु नही हैं। गाय और घोडा को छोडकर अन्य पशु उत्तम पशु नही हैं। यही कहने वाले का अभिप्राय है।

नञ् का छठा अर्थ है—विरोधी वस्तु को बतलाना। जैसे 'अधर्म' शब्द कहने से धर्म का अभाव नही समझा जा सकता, वरन् धर्म का विरोधी अधर्म अर्थात् पाप अर्थ ही समझना संगत होता है।

अहिंसा का अर्थ भी इसी नियम के अनुसार होगा और इस कारण अहिंसा का अर्थ हिंसा का विरोधी अर्थात् रक्षा अर्थ ही उपयुक्त है। इसी अर्थ को दृष्टि मे रखकर शास्त्रकारो ने रक्षा को अहिंसा का पर्यायवाचक शब्द बतलाया है। ऐसा होते हुए भी कई लोग अहिंसा का अर्थ 'हिंसा न करना' ही कहते है। वे रक्षा को अहिंसा के अन्तर्गत नही मानते। यह उनकी भूल है। हिंसा का विरोधी अर्थ रक्षा है। रक्षा अहिंसा के ही अन्तर्गत है। शास्त्रो में रक्षा के ऐसे-ऐसे उदाहरण मोजूद है कि उन्हे पढकर चकित रह जाना पडता है। राजा मेघरथ द्वारा कबूतर की रक्षा करने का उदाहरण अद्वितीय है। मेघरथ राजा ने अपना शरीर दे देना स्वीकार किया मगर शरणागत कबूतर को देना स्वीकार नही किया। अहिंसा का यह जीवित स्वरूप है। मृत अहिंसा किसी काम की नही होती। आज अहिंसा को कायरता की पोशाक पहनाया जाता है। मगर जो हिंसा का विरोध न करे वह अहिंसा ही नही। अहिंसा सदा जीवित ही होनी चाहिए। जीवित अहिंसा को जीवन मे

स्थान दिया जाये तो कल्याण अवश्यम्भावी है ।

सच्चा अहिंसा का पालन करने वाला पापों के प्रायश्चित्त से कभी पीछे नही हटेगा। पापो का पश्चात्ताप करने से पापो के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है और पापो के प्रति अरुचि होने से आत्मा अपूर्वकरण गुणश्रेणी प्राप्त करता है।

अपूर्वकरण गुणश्रेणी किस प्रकार प्राप्त होती है, यह बात आध्यात्मिकता का रहस्य जानने वाला ही भलीभांति जान सकता है । दूसरे के लिए समझना कठिन है । जैसे— हमारे उदर मे अन्न जाता है, किन्तु उस अन्न मे क्या-क्या परिणमन होते हैं, अन्न किस प्रकार पचता है, रसभाग और खल-भाग किस-किस प्रकार अलग होते हैं, नाक, कान, आख आदि इन्द्रियो को किस प्रकार अपना-अपना भाग मिलता है, यह बात हम नही देख सकते। इसी प्रकार हम यह भी नही देख सकते कि कर्म आत्मा को किस प्रकार क्या करते हैं । मगर ज्ञानी पुरुष यह सब जानते हैं । कर्म आत्मा में क्या परिणित उत्पन्न करते हैं, यह बात आप ज्ञानियो के वचन हर श्रद्धा करके ही मान सकते हैं । वैद्य किसी रोग का उपशम करने के लिए औषध देता है । रोगी वैद्य पर विश्वास करके ही औषध सेवन करता है। रोगी स्वय नहीं देख सकता कि औषध पेट मे जाकर क्या क्रिया करती है; सिर्फ हकीम पर श्रद्धा रखकर सेवन करता जाता है। इसी प्रकार कर्म किस प्रकार क्रिया करते हैं और उनका विनाश किस प्रकार होता है यह बात हम नही देख सकते। तथापि ज्ञानी पुरुष तो सम्यक् प्रकार से जानते ही है । तुम दवा द्वारा होने वाली क्रिया नही देख सकते किन्तु दवा से होने वाला परिणाम अवश्य देख सकते हो । इसी तरह आत्मा

मे कर्म जो कुछ करते है वह तुम नही देख सकते किन्तु कर्म का फल देख सकते हो और उसका अनुभव भी कर संकते हो ।

सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुषो के वचनो पर विश्वास करके हम यह मानते हैं कि आत्मा में कर्म इस प्रकार की क्रिया करते है । जिन ज्ञानियो ने हमें बतलाया है कि कर्मों का फल दुखदायी होता है, उन्ही ज्ञानियो ने यह भी प्रकट किया है कि पश्चात्ताप करने से आत्मा को अपूर्वकरण गुण-श्रेणी की प्राप्ति होती है। जैसे औषधि रोगो को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अपूर्वकरण गुणश्रेणी पूर्वसचित पापो को खीचकर जला डालती है अर्थात् मोहनीय कर्म का नाश कर देती है । मोहनीय कर्म का नाश होने पर शेष कर्म भी उसी प्रकार हट जाते है, जैसे सेनापति के मर जाने पर सैनिक भाग छूटते है । अथवा जैसे सूर्योदय होने से तारा-गण छिप जाते हैं और चन्द्रमा का प्रकाश फीका पड जाता है उसी प्रकार पश्चात्ताप से होने वाली अपूर्वकरण गुणश्रेणी द्वारा मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और उसके नाश होने पर अन्यान्य कर्म भी नष्ट हुए विना नही रहते ।

पश्चात्ताप का फल बतलाते हुए टीकाकार ने एक सग्रहगाथा कही है—

उवरिमठिइय दलियं हिट्ठिमठाणेसु कुणइ गुणसेढि ।
गुणसकम करई पुण असुहाओ सुहम्मि पक्खिवई ।।

अपूर्वकरण गुणश्रेणी ऊपर के स्थान के कर्मपुद्गलों को खीचकर अघ स्थान पर ले आती है । जैसे—कोई व्यक्ति एक पुरुष को पकडना चाहता था । मगर वह शक्तिशाली

होने के कारण पकड में न आया । यह उसका उपरितन (ऊँचा) स्थान कहलाया । अब कोई अधिक शक्तिमान् तीसरा पुरुष उसे पकडकर पहले पकडने वाले को सौंप दे तो वह पकड में आ गया। यह उसका अध (नीचा) स्थान कहलाया । इमी प्रकार जो कर्म उदय मे नही आते थे, उन्हे पकड़कर अपूर्वकरण गुणश्रेणी उदय मे ले आती है और उन कर्मों मे गुणसक्रमण कर देती है । माम लीजिए—एक जगह लोहा अधर लटका है । वह इतनी ऊँचाई पर है कि आपकी पकड मे नही आता । परन्तु किसी ने खीचकर तुम्हे पकडा दिया । तुमने उसे पकडकर पारसमणि का स्पर्श कराया और वह सोना बन गया इसी प्रकार जो कर्म उदय मे नही आते थे, उन्हे करणगुणश्रेणी उदय मे ले आती है और उनमे गुणसक्रमण कर देती है अर्थात् पाप को भी पुण्य बना देती है । आपके हाथ मे लोहा हो और उसे सोना बनाने का सुयोग मिल जाये तो क्या आप वह सुयोग हाथ से निकलने देंगे ? ऐसा सुअवसर कौन चूकेगा ? पारस के सयोग से लोहा, सोना बन जाये तो भी वह आत्मा को वास्तविक शान्ति नही पहुँचा सकता, परन्तु पश्चात्ताप मे यह विशेषता है कि वह लोहे को ऐसा सोना बनाता है जो आत्मा को अपूर्व, अद्भुत, अनिर्वचीय और अक्षय शान्ति प्रदान करता है ।

जो पश्चात्ताप पाप को भी भस्म कर डालता है, उसे करने का अवसर मिलने पर भी जो व्यक्ति पश्जात्ताप न करके पाप का गोपन करता है, उसके विषय मे एक भक्त ने ठीक ही कहा है—

अवगुण ढाकन काज करूँ जिनमत-क्रिया ।
तजूं न अवगुण-चाल अनादिनी जे प्रिया ॥

चाहता है, वह धर्म को नही जानता। इसके अतिरिक्त काका ने तुम्हे जो वरदान दिया था, वह हृदय परिवर्तन के कारण नही वरन् भय के कारण दिया था। उनके हृदय मे सचमुच ही परिवर्तन हुआ होता तो वह दूसरी बार भी हम लोगो को वन मे न जाने देते। वास्तव मे उनका हृदय वदला नही था। बल्कि उनके हृदय मे यह भावना थी कि किसी भी उपाय से पाण्डव दूर चले जाएँ और मेरे पुत्र निष्कटक राज्य भोगें। हृदय मे इस प्रकार की भावना होते हुए भी, लोकापवाद के भय से ही काका ने मीठे वचन कहकर तुम्हे वरदान दिया था। अतएव मैंने सोचा— मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके दण्ड से बच निकलना उचित नही है। मुझे अपनी भूल का फल भोगना ही चाहिए। मै दुर्योधन से यह कहना चाहता था कि तुझे जो करना हो सो कर, लेकिन मैं पत्नी को मिले वरदान के कारण वनवास से नही बचना चाहता। मै मन ही मन यह कहने का विचार कर ही रहा था कि उसी समय दुर्योधन का आदमी मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा 'आपको दुर्योधन महाराज फिर जूआ खेलने के लिए बुलाते है।' दुयोधन का यह सन्देश सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैने निश्चय किया—इस बार फिर सर्वस्व हार जना ही उचित है, जिससे मैं वन मे जा सकू और पत्नी के वरदान के कारण मिली हुई वनवास-मुक्ति मे मुक्त हो सकू। मेरे भाई मेरे निश्चय का अनुसरण करें या न करें, परन्तु मुझे तो वनवास करना ही चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके मैंने फिर जूआ खेला और उसमें हार गया। मन में निश्चित किये विचारो को पूर्ण करने के लिए ही मैंने दुवारा जूआ खेला था।'

युधिष्ठिर का यह स्पष्टीकरण सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आपने यह तो नवीन ही बात सुनाई! आपके दूसरी बार जूआ खेलने का मतलब तो मैं समझ गई। लेकिन एक दूसरी बात मैं पूछना चाहती हू। वह यह है कि जब गन्धर्व ने दुर्योधन को कैद कर लिया था तब आपने उसे छुडाने के लिए भीम और अर्जुन को क्यो भेजा था?

युधिष्ठिर उत्तर देते हुए कहने लगे—देवी! मैं जिस कुल मे उत्पन्न हुआ हू उसी कुल के मनुष्य को, जिस वन में मैं रहता हू उसी वन मे मार डाला जाये, यह मैं कैसे देख सकता हू! तुम पीछे आई हो, लेकिन कुल के सस्कार मुझमे तो पहले से ही विद्यमान है। हम और कौरव आपस मे भले ही लड मरे, मगर हमारा भाई दूसरे के हाथ से मार खाये और हम चुपचाप बैठे देखे, यह नही हो सकता। इसी कारण दुर्योधन को गन्धर्व के सिकजे मैं से छुड़ाने का मुझे कोई पश्चात्ताप नही है। उलटा इससे मुझे आनन्द है। दयाभाव से प्रेरित होकर मैंने दुर्योधन को शत्रु के पजे से छुडाया है।

धर्मराज का यह कथन सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आप इस समय जो कष्ट भोग रहे हैं, वह सब इसी दया का परिणाम है न? आपने उसे बचाया मगर वह दुष्ट आपका उपकार मानता है? अजी, वह तो उलटा हमें कष्ट देने का ही प्रयत्न करता है।

युधिष्ठिर—देवी! हम लोग जब वन मे चलते हैं तो अपने पैर के नीचे फूल भी आ जाते हैं। यद्यपि उसे पैर से कुचलकर हम उसका अपराध करते है तथापि वह अपना स्वभाव नही छोडता। जब फूल भी अपना स्वाभाव नही

अर्थात्– हे प्रभो ! मैं अवगुणो को छिपाने से लिए जिनमत की क्रिया करता हूं और ऐसा करके अपने अवगुण छिपाता हू– उनका त्याग नही करता । मेरी यह कैसी विपरीत क्रिया है !

महामति आत्मा का विचार कुछ विलक्षण ही होता है । विचारशील व्यक्ति के विचारो का आभास देने के लिए द्रौपदी और युधिष्ठिर के बीच जो वार्त्तालाप हुआ था, यहा उसका उल्लेख किया जाता है ।

द्रौपदी वुद्धिमती थी । उसे ममझा सकना सहज काम नही था, क्योकि वह सहज ही कोई बात नही मान लेती थी । वह उस बात के विरुद्ध तर्क भी करती थी । भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर से कहा करते थे–'हम आपकी आज्ञा के अधीन हैं । हर हालत मे हम आपका आदेश शिरोधार्य करेगे ही, परन्तु द्रौपदी को आप यह वात भलीभॉति समझा दीजिए । इस प्रकार कोई वात द्रौपदी के गले उतारना टेढी खीर समझी जाती थी ।

एक दिन द्रौपदी विनयपूर्वक हाथ जोडकर धर्मराज के पास आकर वैठी । धर्मराज ने उससे पूछा– 'देवी ! स्वस्थ हो न ?'

द्रौपदी—महाराज ! मन मे कुछ रखना और जीभ मे कुछ कहना मैने नही सीखा । मेरे हृदय मे तो ज्वाया धधक रही है । इस स्थिति मे कैसे कहू कि मै स्वस्थ हूं !

धर्मराज—तुम्हारा कहना सच है । तुम्हारे हृदय में जो ज्वाला धधक रही है, उसका मैं ही हू । मेरे ही कारण तुम सब को वनवास भोगना पडा है ।

द्रौपदी—मेरे हृदय में एक सदेह उत्पन्न हो गया है। मैं आपसे उसका निवारण कराना चाहती हू ।

धर्मराज— कहो, क्या सन्देह है ?

द्रौपदी—जिस समय दुष्ट दुश्शासन ने मुझे नग्न करने का प्रयत्न किया था, उस समय मेरे शरीर का वस्त्र बढ़ गया था । वह खीचते-खीचते थक गया लेकिन मुझे नग्न नही कर सका था । इस घटना से धृतराष्ट्र का हृदय परिवर्तन हो गया था और उन्होने मुझसे वर मागने के लिए कहा था । उस समय मैंने यह वर मागा था कि मेरे पति को गुलामी से मुक्त कर दिया जाये । उन्होनें मेरा यह वचन मानकर आप सबको मुक्त कर दिया था और राजपाट भी वापस सौंप दिया था । इस प्रकार वह घटना समाप्त हो गई थी । फिर आप दूसरी बार जूआ क्यो खेले ? जूआ खेलकर दूसरी बार बधन मे क्यो पडे ? क्या इस प्रश्न का आप समाधान करेंगे ?

युधिष्ठिर—जब पहली बार मैंने जूआ खेला तब तो मेरी भूल थी, मगर दूसरी बार खेलने मे मेरी कोई भूल नही थी । वह तो पहली भूल के पाप का प्रायश्चित्त था। मेरी इच्छा थी, मैंने पहली बार जो भूल की है, उसका पश्चात्ताप मुझे करना ही चाहिए उस भूल का दण्ड मुझे भोगना ही चाहिए । मै उस भूल के दण्ड से बचना नही चाहता था । यद्यपि अपनी भूल का तात्कालिक फल मुझे मिल गया था, पर तुम्हारे वरदान से वह दण्ड क्षमा कर दिया गया था। भूल करके तुम्हारे वरदान के कारण दण्ड से बच निकलना कोई अच्छी बात नही थी। जो स्वय पाप करता है किन्तु पत्नी के पुण्य द्वारा, पाप के दण्ड से बचना

चाहता है, वह धर्म को नही जानता। इसके अतिरिक्त काका ने तुम्हे जो वरदान दिया था, वह हृदय परिवर्तन के कारण नही वरन् भय के कारण दिया था। उनके हृदय में सचमुच ही परिवर्तन हुआ होता तो वह दूसरी वार भी हम लोगो को वन मे न जाने देते। वास्तव मे उनका हृदय वदला नही था। वल्कि उनके हृदय मे यह भावना थी कि किसी भी उपाय से पाण्डव दूर चले जाएँ और मेरे पुत्र निष्कटक राज्य भोगे। हृदय मे इस प्रकार की भावना होते हुए भी, लोकापवाद के भय से ही काका ने मीठे वचन कहकर तुम्हे वरदान दिया था। अतएव मैंने सोचा — मुझसे जो अपराध हुआ है, उसके दण्ड से वच निकलना उचित नही है। मुझे अपनी भूल का फल भोगना ही चाहिए। मैं दुर्योधन से यह कहना चाहता था कि तुझे जो करना हो सो कर, लेकिन मैं पत्नी को मिले वरदान के कारण वनवास से नही वचना चाहता। मै मन ही मन यह कहने का विचार कर ही रहा था कि उसी समय दुर्योधन का आदमी मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा 'आपको दुर्योधन महाराज फिर जूआ खेलने के लिए बुलाते है।' दुयोधन का यह सन्देश सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैने निश्चय किया—इस बार फिर सर्वस्व हार जाना ही उचित है, जिससे मैं वन मे जा सकू और पत्नी के वरदान के कारण मिली हुई वनवास-मुक्ति मे मुक्त हो सकू। मेरे भाई मेरे निश्चय का अनुसरण करे या न करे, परन्तु मुझे तो वनवास करना ही चाहिए। इस प्रकार निश्चय करके मैंने फिर जूआ खेला और उसमे हार गया। मन मे निश्चित किये विचारो को पूर्ण करने के लिए ही मैंने दुवारा जूआ खेला था।'

युधिष्ठिर का यह स्पष्टीकरण सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आपने यह तो नवीन ही बात सुनाई ! आपके दूसरी बार जूआ खेलने का मतलब तो मैं समझ गई। लेकिन एक दूसरी बात मैं पूछना चाहती हू। वह यह है कि जब गन्धर्व ने दुर्योधन को कैद कर लिया था तब आपने उसे छुडाने के लिए भीम और अर्जुन को क्यो भेजा था ?

युधिष्ठिर उत्तर देते हुए कहने लगे - देवी ! मैं जिस कुल मे उत्पन्न हुआ हू उसी कुल के मनुष्य को, जिस वन मे मैं रहता हू उसी वन मे मार डाला जाये, यह मैं कैसे देख सकता हू ! तुम पीछे आई हो, लेकिन कुल के सस्कार मुझमे तो पहले से ही विद्यमान है। हम और कौरव आपस मे भले ही लड मरे, मगर हमारा भाई दूसरे के हाथ से मार खाये और हम चुपचाप बैठे देखें, यह नही हो सकता। इसी कारण दुर्योधन को गन्धर्व के सिकजे मैं से छुड़ाने का मुझे कोई पञ्चात्ताप नही है। उलटा इससे मुझे आनन्द है। दयाभाव से प्रेरित होकर मैंने दुर्योधन को शत्रु के पजे से छुडाया है।

धर्मराज का यह कथन सुनकर द्रौपदी कहने लगी—आप इस समय जो कष्ट भोग रहे है, वह सब इसी दया का परिणाम है न ? आपने उसे बचाया मगर वह दुष्ट आपका उपकार मानता है ? अजी, वह तो उलटा हमें कष्ट देने का ही प्रयत्न करता है।

युधिष्ठिर—देवी ! हम लोग जब वन मे चलते है तो अपने पैर के नीचे फूल भी आ जाते हैं। यद्यपि उसे पैर से कुचलकर हम उसका अपराध करते हैं तथापि वह अपना स्वभाव नही छोडता। जब फूल भी अपना स्वाभाव नही

छोडता तो फिर दुर्योधन की करतूत देखकर मैं अपना स्वभाव कैसे छोड दू ? दुर्योधन हमारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे परन्तु मैं अपना क्षमाभाव नही त्याग सकता। जैसे भीम को गदा का और अर्जुन को गाडीव का बल है, उसी प्रकार मुझमें क्षमा का वल है। यद्यपि गदा और गाँडीव का प्रयोग जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है वैसा क्षमा का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई नही देता और न उसका तात्कालिक फल ही दृष्टि-गोचर होता है । परन्तु मुझे अपनी क्षमा पर विश्वास है । मैं विश्वासपूर्वक मानता हू कि जैसे दीमक वृक्ष को खोखला कर देती है उसी प्रकार मेरी क्षमा ने दुर्योधन को खोखला बना दिया है । दीमक के द्वारा खोखला होने के पश्चात् वृक्ष चाहे आधी से गिरे या बरसात से, मगर उसे खोखला बनाने वाली चीज तो दीमक ही है । इसी प्रकार दुर्योधन का पतन चाहे गदा से हो या गाडीव से, लेकिन उसे नि सत्व बनाने वाली मेरी क्षमा ही है। अगर मेरी क्षमा उसे खोखला न कर सकी तो गदा या गाँडीव का उस पर कोई प्रभाव् नही पड सकता ।

द्रौपदी ने कहा— धर्म की यह तराजू अद्भुत है ! आपके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि आप प्रत्येक कार्य धर्म की तुला पर तोल कर ही करते हैं ।

युधिष्ठिर— साधारण चीजे तोलने के काटे मे कुछ पासग भी रहता है, लेकिन जवाहिर या हीरा, माणिक तोलने के कांटे में पचमात्र भी पासग नही चल सकता । इसी प्रकार धर्म का काटा, बिना किसी अन्तर के, ठीक निर्णय दे देता है । मै अपने धर्मकाटे मे तनिक भी अन्तर नही आने देता। मै अपना अपकार करने वाले का भी उपकार ही करूंगा

और इसका कारण यही है कि मेरी धर्मतुला ऐसा करने के लिए मुझे बाध्य करती है ।'

मित्रो ! आपको भी युधिष्ठिर के समान क्षमा धारण करनी चाहिए या नही ? अगर आज ऐसी क्षमा का व्यवहार करना आपके लिए शक्य न हो तो कम से कम श्रद्धा मे तो क्षमा रखी ही जा सकती है। क्षमा पर परिपूर्ण श्रद्धा रखना तो सम्यग्दृष्टि का स्वाभाविक गुण है। सब पर समभाव रखने वाला ही सम्यग्दृष्टि कहलाता है । समभाव धारण करने वाले मे इसी प्रकार की क्षमा की आवश्यकता है । आज आप लोगो के व्यवहार में इस क्षमा के दर्शन नही होते, मगर युधिष्ठिर जैसों के चरित्र मे वह मिलती ही है । अतएव उसकी शक्यता के सम्बन्ध में शका नहीं उठाई जा सकती ।

सातवाँ बोल

गर्हा

निन्दा के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर चल रहा, था वह समाप्त हुआ । आत्मनिन्दा, गर्हापूर्वक करनी चाहिए । अतएव यहाँ गर्हा के सम्बन्ध में विचार करना है । गर्हा के सम्ब ध में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है :—

प्रश्न—गरहणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—गरहणयाए अपुरेकारं जणयइ, अपुरेकारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणंतघाई पज्जवे खवेइ ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! गर्हणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गर्हणा करने से जीव दूसरो से सन्मान नहीं पाता । कदाचित् उसमे खराव भाव उत्पन्न हो जाएँ तो भी वह अपमान के भय से खराव विचारो को हृदय से वाहर निकाल देता है अर्थात् शुभ परिणाम वाला हो जाता है । प्रशस्त परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षय करके वह अनन्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

भगवान् से शिष्य ने यह प्रश्न पूछा है कि—'हे भगवन् ! गर्हा—अपने दोषो का दूसरे के समक्ष प्रकाशन—करने से जीव को क्या लाभ होता है ?' भगवन् ने इस प्रश्न के उत्तर मे जो कुछ कहा है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है गर्हा वास्तव मे किसे कहते हैं? निन्दा और गर्हा में क्या अन्तर है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते है—अनेक पुरुष ऐसे है ज़ो अपनी आत्मा को नीच मानते है और कहते है—

जेती वस्तु जगत मे, नीच नीच ते नीच ।
तिनते मैं हू अधम अति, फस्यो मोह के बीच ।।

अर्थात् ससार मे नीच से नीच गिनी जाने वाली जितनी वस्तुएँ हैं, उनमे मेरी आत्मा सब से नीच है ।

पापोऽहं पापकर्माऽहं, पापात्मा पापसन्भवः ।

अर्थात् हे प्रभो ! मैं पापी हू, पापकर्मा हू और जिन पापो को मैं बार-बार धिक्कारता हू उन्ही पापो को पुनः करने वाला हू । इससे बढकर पतितदशा और क्या हो सकती है ?

इस ससार में अनेक महात्मा भी ऐसे है जो अपने विषय मे ऐसा अनुभव करते है । उनकी विचारधारा कुछ ऐसी होती है कि मेरे पाप या दोष मैं और परमात्मा ही क्यो जाने ? अपने पापो की प्रकटता यही तक सीमित क्यों रहे ? दूसरे लोगो को भी मेरे पापो का पता क्यो न चल जाये ? मेरा नग्नस्वरूप जगत् क्यो न देखे ? इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर गुरु आदि के समक्ष

अपने दोष निवेदन करना गर्हा कहलाता है। अपने दोषों की आप ही निन्दा करना निन्दा है, चाहे दूसरा कोई छद्मस्थ जाने या न जाने। मगर गर्हा तो दूसरो के सामने अपने दोष प्रकट करने के लिए ही की जाती है।

इस भेद को देखते हुए गर्हा का फल निन्दा के फल से अधिक होना चाहिए। गर्हा का फल अधिक न हो तो उसके करने मे लाभ ही क्या है? फल का विचार किये बिना मन्द पुरुष भी किसी कार्य मे प्रवृत्ति नही करता। अतएव गर्हा का फल निन्दा की अपेक्षा अधिक ही होना चाहिए।

प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते हैं— गर्हा करने से अपुरस्कारभाव उत्पन्न होता है। किसी व्यक्ति की प्रशसा होना— जैसे यह उत्तम पुरुष है, यह गुणवान् पुरुष है, आदि कहना— पुरस्कारभाव कहलाता है। अपुस्कार मे इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव है। 'अपुरस्कार' शब्द मे 'अ' अभाव का सूचक है। गर्हा करने से अपुरस्कारभाव प्रकट होता है। पहलेपहल तो ऐसा भय बना रहता था कि कोई मेरा अपराध जान लेगा तो मुझे तुच्छ समझकर मेरी निन्दा करेगा। किन्तु जब गर्हा करने का विचार आता है तो वह भय जाता रहता है। उस समय व्यक्ति की यही इच्छा होती है कि लोग मुझे प्रशसनीय न माने वरन् निदनीय समझे। इसी फल की प्राप्ति के लिए गर्हा की जाती है। अर्थात् लोगो की दृष्टि मे अपने को निन्दनीय मानने के लिए गर्हा की जाती है।

कहा जा सकता है कि यह तो गर्हा का उलटा फल मिला। गर्हा करने से तो उलटी अधिक निन्दा हुई! गर्हा

करने से यदि निन्दा होती है और शास्त्रकार भी गर्हा का फल अपुरस्कार बतलाते है तो गर्हा करने से लाभ के बदले हानि ही समझना चाहिए। अपमान से बचने के लिए लोग बडे-बडे पाप करते है, तो फिर अधिक निन्दा करने के लिए गर्हा क्यो की जाये ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है। वास्तव में बडे बडे पाप निन्दा से बचने के लिए ही किये जाते है। मैं तो यहा तक मानता हू कि कई-एक मत-मतान्तर भी अपने पापो को पुण्य प्रमाणित करने के लिए चल रहे है अथवा इसीलिए चलाये गये है कि उनके चलाने वाले निन्दा से बच जाएँ। अर्थात् अपते पाप दबाने के लिए या उन पर पुण्य का पालिश चढाने के लिए ही अनेक मत-मतान्तर चलाये गये हैं। बात खराब है, यह जानते हुए भी उसे न छोडना फिर भी जनता मे अपना स्थान उच्च बनाये रखना, इस उद्देश्य से पाप को धर्म का रूप दिया जाता है और उसी को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है। देखा जाता है कि लोग अपनी भलमनसाई प्रकट करने के लिए और अपनी गरीबी दबाने के लिए नकली मोती या रोल्डगोल्ड की माला पहन लेते हैं। इस पद्धति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग सन्मान चाहते हैं। इस प्रकार सन्मानलाभ की भावना से ही पाप को पुण्य का रूप दिया जाता है और पाप को धार्मिकसिद्धान्त के आसन पर आसीन कर दिया जाता है। किन्तु गर्हा करने वाला व्यक्ति इस प्रकार की भावना का परित्याग कर देता है और अपुरस्कारभाव धारण करता है। जो सन्मान की कामना से ऊपर उठ चुका है और अपमान का जिसे भय नही है, बल्कि जो अपमान चाहता है, वही व्यक्ति गर्हा कर सकता है।

प्राय. देखा जाता है कि लोग निन्दनीय कार्य तो कर बैठते हैं मगर निन्दा सुनने से डरते हैं और निन्दा सुनने के लिए तैयार नही होते। शास्त्र कहता है—जब किसी व्यक्ति के अन्त करण मे यह भावना उद्भूत होती है कि मैंने जो निन्दनीय कार्य किये हैं, उनके कारण होने वाली निन्दा मैं सुन लूं, तब वह गर्हा किये बिना नही रहता और जब वह इस तरह शुद्ध भाव से गर्हा करता है तब गर्हा से उत्पन्न होने वाले अपुरस्कारभाव द्वारा वह अप्रशस्त योग में निवृत्त हो जाता है।

शूली पर चढकर शस्त्राघात सहन करके या विषपान करके मर जाना कदाचित् सरल है, परन्तु शान्तभाव से अपनी निन्दा सुनना सरल नही है। अपनी निन्दा सुनकर अशुभ योग का आ जाना बहुत सम्भव है। मगर अपनी निन्दा सुन लेने वाली और जिन कामो की बदौलत निन्दा हुई है, उनका त्याग कर देने वाला अपने अन्त करण मे अशुभ योग नही आने देता। इसका फल यह होता है कि वह अप्रश त योग से निकलकर प्रशस्त योग मे प्रविष्ट हो जाता है।

ससार में विरले ही ऐसे पुरुष मिलेगे जो अपनी निंदा सुनने के लिए तैयार हो। अधिकाश लोग ऐसे ही है जो चाहते हैं कि हम खराब कृत्य भले ही करे किन्तु हमे कोई खराब न कह पाये। यह दुर्भावना आत्मा के लिए विष के समान है। इस विष से आत्मा मे अधिक बुराइया आ घुसती है। इससे विपरीत जिनकी भावना यह है कि मुझे प्रशसा नही चाहिए, निन्दा ही चाहिए, वे लोग गर्हा किये बिना नही रहते। गर्हा करने वालो मे अपुरस्कारभाव आता है

और अपुरस्कारभाव आने से पापो का नाश हो जाता है। इस प्रकार आत्मा जब अपुरस्कारभाव को अपनाती है तब वह अप्रशस्त योग से छूटकर प्रशस्त योग प्राप्त करती है।

अप्रशस्त योग में से निकलकर प्रशस्त योग में प्रवेश करना साधारण बात नही है। धूल के रुपये बनाये जा सकते है, मगर अप्रशस्त को प्रशस्त बनाना उससे भी कही कठिन कार्य है। आपने बाजीगरो को धूल से रुपया बनाते देखा होगा। वह तो सिर्फ हस्तकौशल है। अगर वह धूल से रुपया बना सकते तो पैसे-पैसे के लिए क्यो भीख मागते फिरते? यह वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर भी बहुतेरे लोग ऐसी बातो मे चमत्कार मानते हैं और कहते है कि चमत्कार को ही नमस्कार किया जाता है। इस भावना से प्रेरित होकर लोग ढोग को भी चमत्कार मानने लगते हैं और इस प्रकार के ढोग के पीछे लोग और विशेषत स्त्रियाँ पागल बन जाती हैं। इस प्रकार अन्धे होकर ढोग के पीछे दौडने का अर्थ यह है कि अभी तक परमात्मा के प्रति पूर्ण और दृढ विश्वास उत्पन्न नही हुआ है। परमात्मा के प्रति सुदृढ विश्वास उत्पन्न हो जाने पर यह स्थिति उत्पन्न नही होती।

आशय यह है कि लोग इस प्रकार ढोग मे तो पड जाते हैं किन्तु अपनी आत्मा को नही देखते कि हमारी आत्मा मे क्या है? भक्तजन यह बात ध्यान मे रखकर ही यह कहते है—

रे चेतन! पोते तू पापी, परना छिद्र चितारेजी।

भक्तजनो ने अपनी आत्मा को यह चेतावनी दी है—'हे आत्मन्! तेरे पापो का पार नही है। फिर भी तू अपने

पाप न देखकर दूसरो की बातो मे क्यो पडता है ? तेरे पात्र मे मलीन जल भरा है, उसे तो तू साफ नही करता और दूसरो से कहता फिरता है कि लाओ, मै तुम्हारा पानी साफ कर दू ! यह कथन क्या युक्तिसगत कहा जा सकता है ? भक्तजन सबसे पहले अपने पर ही विचार करते है, अतएव वह कहते हैं–

मो सम पतित न और गुसाई ।
अवगुण मोसो अजहुँ न छूटे, भली तजी अब ताई ।
मोह्यो जेही कनक-कामिनी, ते ममता मोह वढाई ॥
रसना स्वाद मीन ज्यो उलझी सुलझत नहिं सुलझाई ।
मो सम पतित न और गुसाई ॥

अर्थात्–प्रभो ! मुझसा पतित और कौन होगा ? मै गुणो का त्याग कर देता हू पर अवगुणों का तो आज तक त्याग नही किया ।

जिसमें भक्तजनो के समान ऐसी भावना होगी, वह अपने पाप अवश्य नष्ट कर डालेगा । वास्तव मे जो इस उच्च भावना का धनी है वह बडा भाग्यशाली है । शास्त्रकार ऐसे भाग्यशाली को इसीलिए कहते है कि पुरस्कार-भावना से निकलकर अपुरस्कारभावना मे आने के लिए गर्हा करो और गर्हा करके अपुरस्कारभावना मे आओ ।

भक्तजनो का कथन है–हे प्रभो ! मैं भलीभाति जानता हूं कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र अथवा साधु-अवस्था हितकर है और क्रोध आदि विकार अहितकर है । फिर भी मै साधुपन अगीकार नही करता और क्रोध करता

हू । यह मेरी कैसी विपरीत दशा है ! ऐसी दशा मे मुझ जैसा पतित और कौन होगा ?

अगर साधुपन तुमसे नही ग्रहण किया जाता तो कम से कम क्रोध को तो मारो। श्रीउत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है:—

कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ।

अर्थात्— क्रोध को असत्य करो अर्थात् क्रोध को पी जाओ और अप्रिय को भी प्रिय धारण करो । क्रोध किस प्रकार असत्य किया जा सकता है, इसके लिए एक दृष्टान्त दिया गया है । वह इस प्रकार है—

एक क्षत्रिय को किसी दूसरे क्षत्रिय ने मार डाला । मारे गये क्षत्रिय की पत्नी गर्भवती थी । गर्भस्थित बालक सस्कारी था । जनमने के बाद बडा होकर वह ऐसा वीर निकला कि राजा भी उसका सन्मान करने लगा। एक बार वह किसी युद्ध मे विजय प्राप्त करके आया । राजा और प्रजा के द्वारा अपूर्व सन्मान पाकर वह घर गया । रास्ते मे वह सोचता जाता था कि सब लोगो ने मेरा सन्मान किया है, मगर मैं अपने को सच्चा सन्माननीय तभी मानूगा, जब मेरी माता भी मेरे कार्य को अच्छा समझेगी और मुझे आशीर्वाद देगी । मुझे दुनिया मे जो सन्मान प्राप्त हो रहा है, वह सब माता की ही कृपा का फल है ।

इस प्रकार सोचता हुआ वह अपनी माता के पास पहुँचा । उस पर नजर पडते ही माता ने अपना मुह फेर लिया । यह देखकर वह सोचने लगा— मेरी मा मेरी ओर दृष्टिपात भी नही करना चाहती ! मुझे धिक्कार है! तदनन्तर उसने मा से कहा—मा, इस बालक से क्या अपराध

बन गया है कि आप इसकी ओर देखना भी नही चाहती ।

माता बोली – बेटा, तुम्हारा असली शत्रु तो अभी तक जीवित है । जब तक उसे न जीत लिया जाये, तब तक मुझे प्रसन्नता कैसे हो सकती है ?

पुत्र ने कहा—आपका कहना सच है । मगर वह है कौन जो मेरा सच्चा शत्रु है ?

माता – पिता का घात करने वाले से बडा शत्रु और कौन हो सकता है ?

पुत्र—सचमुच, ऐसा घोर कृत्य करने वाला महान् अपराधी है। आप बतलाइये कि कौन मेरे पिता का घातक है ?

माता ने नाम बतला दिया। पुत्र ने कहा—ऐसा था तो आपने अभी तक मुझसे कहा क्यो नही ?

माता – जहाँ तक तुम्हारा पराक्रम पूर्णरूप से विकसित नही हुआ था, तब तक तुम्हे शत्रु कैसे बतलाती ?

पुत्र — ठीक है । मैं जाता हूं और शत्रु को वश में कर लाता हू । जब तक मैं उसे वश मे न कर लूंगा, अन्न-जल ग्रहण नही करूँगा ।

पुत्र अपने पिता के घातक के पास जाने को उद्यत हुआ । उस घातक को भी पता चल गया कि वह मुझे मारने आ रहा है । उसने सोचा—वह वीर है और क्रुद्ध होकर आ रहा है । ऐसी हालत मे मुझे मार डाले बिना नही रहेगा । इस प्रकार विचार कर वह क्षत्रियपुत्र के सामने आया और उसके पैरो मे पड गया। क्षत्रियकुमार ने कहा – तू मेरा शत्रु है, क्यो मेरे पैरो मे पडता है ? वह क्षत्रिय

गिडगिड़ाकर कहने लगा—मैंने आपके पिता का घात अवश्य किया है, फिर भी मैं आपके शरण आया हू।

क्षत्रिय शरणागत को नही मारता। इस सम्बन्ध में मेवाढ मे एक किवदन्ती प्रसिद्ध है। मुगल बादशाह मेवाड के महाराणा का शत्रु था। किन्तु जब महाराणा बादशाह को मारने लगे तो बादशाह बोला–मैं आपकी गाय हू। बादशाह के मुख से यह दीनतापूर्ण शब्द सुनकर राणा ने उसे छोड दिया। दूसरे लोगों ने राणा से कहा–आप यह उचित नही कर रहे हैं। किन्तु राणा ने उन्हे उत्तर दिया—शत्रुओ का सहार करने वाले तो बहुत मिलेगे मगर शरणागत शत्रु की रक्षा करने वाले विरले ही होंगे। शरणागतो की रक्षा करना क्षत्रियो का धर्म है। मैं इस धर्म की उपेक्षा नही कर सकता।

शरणागत क्षत्रिय ने, क्षत्रियकुमार से कहा–मै आपके शरण आया हूं। यह शब्द सुनकर क्षत्रियकुमार उसे मार न सका। उसे उसने बाध लिया और अपनी माता के पास ले आया। आकर माता से कहा–लो, यह मेरा शत्रु है। कहो, इसे क्या दण्ड दिया जाये? अपने पुत्र का पराक्रम देख माता की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने कहा—इसी से पूछ देखना चाहिए कि यह क्या दण्ड पसन्द करता है।

इस प्रकार कहकर माता ने अपने पति के घातक क्षत्रिय से पूछा— बोल, तुझे क्या दण्ड मिलना चाहिए? क्षत्रिय ने उतर दिया— मा, शरणागत को जो दण्ड देना उचित हो, वही दण्ड मुझे दीजिए।

यह उत्तर सुनकर माता ने कहा— वेटा, अव इसे मत मारो। इसने मुझे माँ कहा है। अव यह मेरा वेटा और तेरा भाई वन गया है। यह शरणागत है। अव इसे छोड दे। मैं जल्दी भोजन वनाती हू सो तुम दोनो भाई साथ वैठकर भोजन करो।

पुत्र ने कहा मा, तुमने मुझे उत्तेजित किया है। मेरा क्रोध भडका हुआ है। वह शात होना नही चाहता। अव मैं अपने क्रोध को किस प्रकार सफल करूँ ?

माता ने उत्तर दिया—क्रोध को सफल करने में कोई वीरता नही है। सच्ची वीरता तो क्रोध को जीतने में है। दूसरे पर विजय प्राप्त करना उतनी वडी वीरता नही, जितनी क्रोध पर विजय प्राप्त करना वीरता है। इसलिए तू क्रोध को जीत।

क्षत्रियकुमार ने उस क्षत्रिय मे कहा--मैं अपनी माता का आदेश मानकर तुझे छोडता हू और अभयदान देता हूं।

जो स्वय निर्भय है वही दूसरो को अभयदान दे सकता है। अभयदान यद्यपि सव दानो मे उत्तम माना गया है मगर उसका अधिकारी वही है जो स्वय अभय है। जो स्वय भय मे काप रहा हो वह दूसरे को क्या खाक अभयदान दे सकेगा ? तुम लोग स्वय तो भय से थर्राते हो और वकरो का अभयदान देने दौडते हो ! इसमे करुणाभाव तो है, मगर यह पूर्ण अभयदान नही है। तुम पहले स्वय निर्भय वनो फिर अभयदान देने के योग्य वन सकोगे।

क्षत्रियकुमार की माता ने भोजन वनाया। क्षत्रिय-कुमार ने और उसके पिता के घात करने वाले क्षत्रिय ने

साथ बैठकर भोजन किया। कदाचित् क्षत्रियकुमार उसे मार डालता तो अधिक वैर बढता और वैर की वह परम्परा कौन जाने कहां तक चलती और कब समाप्त होती। किन्तु क्रोध पर विजय प्राप्त करने से दोनो क्षत्रिय भाई-भाई हो गये।

तुम प्रवचन को माता मानते हो। तो जैसे क्षत्रिय-कुमार ने माता की आज्ञा शिरोधार्य की थी, उसी प्रकार तुम भी प्रवचन-माता की बात मानोगे या नही ? प्रवचन-माता का आदेश यही है कि क्रोध को जीतो और निर्भय बनो। छुरा लेकर मारने के लिए कोई आये तो भी तुम भयभीत मत बनो। कामदेव श्रावक पर पिशाच ने तलवार का घाव करना चाहा था, फिर भी कामदेव निर्भय ही रहा। तुम धनवान् होने का बहाना करके छूटने का प्रयत्न नही कर सकते, क्योकि कामदेव गरीब श्रावक नही था, वह अठा-रह करोड मोहरो का स्वामी था, उसके साठ हजार गौएँ थी। फिर भी वह निर्भय रहा। तुम भी इसी प्रकार निर्भय बनो। निर्भय होने पर तलवार, विष या अग्नि वगैरह कोई भी वस्तु तुम्हारा वाल बाका न कर सकेगी। वास्तव मे दूसरी कोई भी वस्तु तुम्हारा बिगाड नही कर सकती, सिर्फ तुम्हारे भीतर पैठा हुआ भय ही तुम्हारी हानि करता है। अपने आन्तरिक भय को जीतोगे तो अपने को अत्यन्त शक्ति-शाली पाओगे।

कहने का आशय यह है कि क्रोध को जीतो और क्षमा धारण करो। साधारण अवस्था मे तो सभी क्षमाशील रहते हैं मगर क्रोध भडकने पर क्षमा रखना ही वास्तव मे क्रोध को जीतना कहलाता है। कहावत है—

जी जी कर बतलावतां, काना क्रोध न आय।
आढा टेढा बोलता, खबर खमानी थाय ॥

जो निन्दा के भय से डरता नही है, वही क्रोध को जीत सकता है। भक्त तुकाराम कहते है—

तुका म्हेण भण अवहेलति मझ तरी केसीराज रखविति।

अर्थात्—हे प्रभो ! जब मुझमें अपनी निन्दा सहन करने की शक्ति आ जायेगी तभी मै तुम्हारा सच्चा भक्त समझा जाऊँगा।

इस प्रकार विचार कर भक्तजन निन्दा से भयभीत नही होते, वरन् निन्दा सहन करने के लिए सशक्त और सहनशील बनते हैं। हा, वे नवीन निन्दनीय कार्य नही करते, मगर पहले के निन्दनीय कार्यो के कारण होने वाली निन्दा से घबराते नही। इस प्रकार जो निन्दा से नही, मगर निंदा-योग्य कार्यों से ही घबराता है, वही अशुभ योग मे से निकलकर शुभ योग मे प्रवृत्त होता है।

अपने दोषो को गुरु के समक्ष प्रकट कर देना गर्हा है। गर्हा किस प्रकार की होनी चाहिए, इस विषय की व्याख्या स्थानागसूत्र मे की गई है। गर्हा का स्वरूप बतलाते हुये श्री-स्थानागसूत्र मे, द्वितीय स्थान मे, दो प्रकार की गर्हा बतलाई गई है और तृतीय स्थान मे तीन प्रकार की कही गई है। दूसरे स्थान (ठाणा) मे कहा है—

दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तजहा - मणसावेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ, अहवा दुविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा—दीहमद्धमेगे गरिहइ, रहसमद्धमेगे गरिहइ ॥

अर्थात्—गर्हा दो प्रकार की है—मन से की जाने वाली गर्हा और वचन से की जाने वाली गर्हा। परन्तु दोनो

को साथ करके की जाने वाली गर्हा पूर्ण गर्हा है। अन्यथा गर्हा के चार भग हो जाते हैं। वह इस प्रकार—

(१) मन से गर्हा करना वचन से न करना।

(२) वचन से गर्हा करना मन से न करना।

(३) मन से भी गर्हा करना वचन से भी करना।

(४) मन से भी गर्हा न करना वचन से भी न करना। (यह भग शून्य है)

कभी-कभी वचन से तो गर्हा नही होती किन्तु मन मे गर्हा हो जाती है। जैसे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि नीची स्थिति मे जाने के योग्य विचार कर रहे थे। उसी समय उनका हाथ अपने मस्तक पर जा पहुँचा। मस्तक पर मुकुट न पाकर उन्होने मन ही मन ऐसी गर्हा की कि उसी समय केवली हो गये। इस प्रकार एक गर्हा ऐसी होती है जो वचन से तो नही होती, सिर्फ मन से होती है। दूसरी गर्हा ऐसी होती है जो मन से नही की जाती, सिर्फ वचन से की जाती है। ऐसी गर्हा द्रव्यगर्हा कहलाती है। वचन से न होकर भी मन से होने वाली गर्हा तो ठीक है मगर मन से गर्हा न करके केवल वचन से कह देना कि 'मुझसे अमुक दुष्कर्म हो गया है', एक प्रकार का दम्भ ही है। मन में जुदा भाव रखना और वचन से गर्हा करना द्रव्यगर्हा है, जो दूसरो को ठगने के लिए की जाती है। दूसरो को ठगने के लिए की जाने वाली द्रव्यगर्हा के अनेक उदाहरण शास्त्र-कारो ने बतलाये है।

कल्पना कीजिए, कोई पुरुप मर गया है। उसका किसी दूसरी स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध था। जब मृत पुरुष की लाश उस स्त्री के घर के सामने होकर निकली

तो वह अपना रुदन न रोक सकी। मगर साधारण रीति से रोए तो लोगो को शका हो कि यह स्त्री इस पुरुप के लिए क्यों रोई ? इसका मृत पुरुप के साथ क्या सम्बन्ध था ? इस प्रकार की निन्दा से बच जाये और रो भी ले, ऐसा उपाय खोजकर उस स्त्री ने अपने हाथ के कडे नीचे फेंक दिये और 'मेरे कडे गिर पडे' कह-कहकर जोर-जोर से रोने लगी। वास्तव में उसे अपने जार के लिए रोना था, मगर वह कडो का वहाना करके रोने लगी। क्या यह कहा जा सकता है कि उसका रुदन कडो के लिए है ? कडा तो रोने का वहाना भर थे।

इस प्रकार भीतर कुछ और भाव रखना तथा वचन द्वारा यह प्रकट करना 'मुझसे अमुक खराव काम हो गया, इसके लिए मुझे दु ख है,' यह द्रव्यगर्हा है। यह द्रव्यगर्हा ढोंग है और लोगो को ठगने के लिए की जाती है। पूर्वोक्त चतुर्भंगी में द्रव्यगर्हा दूसरे भग मे है।

तीसरे प्रकार की गर्हा मन से भी की जाती है और वचन से भी की जाती है। चौथी गर्हा शून्यरूप है। यह गर्हा न मन से की जाती है, न वचन से ही की जाती है।

इस प्रकार स्थानागसूत्र के दूसरे ठाणे में गर्हा के दो भेद किये गये हैं। एक गर्हा वह जो मन से की जाती है और दूसरी गर्हा वह जो वचन से की जाती है। अथवा पहली गर्हा वह है जो दीर्घकाल के कार्यों की न की जाकर निकटकाल के कार्यो की की जाये और दूसरी गर्हा वह जो निकटकाल के कार्यों की न की जाकर दीर्घकालीन कार्यो की की जाये। या दीर्घ कार्य की गर्हा की जाये और लघु (सामान्य) कार्य की गर्हा न की जाये।

कौन से कार्य दीर्घ और कौन से लघु हैं, यह वर्गीकरण करना कठिन है। अनुभवी पुरुष ही विशेषरूप से स्पष्टीकरण कर सकते है। किन्तु वास्तव मे गर्हा सभी पापो की करनी चाहिए, फिर चाहे वह दीर्घकालीन हो या निकटकालीन हो, मोटा पाप हो या छोटा पाप हो।

तीसरे ठाणे मे गर्हा के तीन भेद बतलाते हुए कहा गया है –

तिविहे गरिहा पन्नत्ते, तंजहा–मणसा, वयसा, कायसा।

अर्थात्—गर्हा तीन प्रकार की है—मन से की जाने वाली, वचन से की जाने वाली और काय से की जानेवाली। अथवा मन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना, वचन द्वारा किये कार्यों की गर्हा करना और काय द्वारा कृत कार्यों की गर्हा करना। यद्यपि गर्हा के यह तीन भेद बतलाये गये हैं तथापि यह नही भूलना चाहिए कि पूर्ण गर्हा वही है जो मन, वचन और काय—तीनो के द्वारा की जाती है। गर्हा करने का उद्देश्य है—

पावाणं कम्माणं अकरणयाए।

अर्थात्–पुन पापकर्म न करने के उद्देश्य से गर्हा की जाती है। इसीलिए पाप का प्रकाशन किया जाता है कि पाप के कारण निन्दा हो और भविष्य में फिर कभी वह पाप न किया जाये। यही गर्हा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब मन, वचन और काय— तीनो योगो से गर्हा की जाये।

तात्पर्य यह है कि भविष्य में पुन पापकर्म मे प्रवृत्ति

न हो, इस ध्येय की सिद्धि के लिए मन वचन और काय से—तीनो से—गर्हा करना चाहिए ।

कहा जा सकता है कि पापकर्मो को गर्हा मन से ही कर ली जाये तो काफी है। गुरु आदि के समक्ष गर्हा करने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा कहने वालो से यही कहा जा सकता है कि शास्त्र का वचन अगर प्रमाण मानते हो तो शास्त्र पर विश्वास रखकर, शास्त्र के कथनानुसार ही गर्हा करनी चाहिए । अगर तुम्हे शास्त्र पर विश्वास नही है तो फिर तुमसे कुछ कहना ही वृथा है । शास्त्र मे निंदा और गर्हा के बीच बहुत अन्तर बतलाया गया है । गर्हा लघुता प्रकट करने के लिए की जाती है। अगर कोई मनुष्य ऊपर से लघुता दिखलाता है मगर पाप का त्याग नही करता तो कहना चाहिए कि वह वास्तव मे लघुता का प्रदर्शन नही करता वरन् ढोंग का ही प्रदर्शन करता है। जिसमें सच्ची लघुता होती है वह गर्हा करते हुए विचार करता है कि मेरी आत्मा ने कैसा नीच कृत्य किया है !

जिस मनुष्य को सवारी के लिए हाथी उपलब्ध है, वह हाथी को छोडकर यदि गधे पर सवार होता है तो मूर्ख ही कहा जायेगा। इसी प्रकार आत्मा को विचारना चाहिए कि—'हे आत्मन् ! तुझे हाथी पर बैठने के समान शरीर मिला है, तथापि तू गधे पर बैठने के समान नीच कृत्य क्यो करता है ?' इस प्रकार विचार करने से सच्ची गर्हा करने की भावना का उदय होगा और उसी समय आत्मा मे लघुता भी आएगी । ज्यो-ज्यो आत्मा मे लघुता आएगी, त्यो-त्यो आत्मा परमात्मा के समीप पहुंचता जायेगा ।

मैंने जिन ग्रन्थो का अवलोकन किया है, उन सब मे

प्राय यही कहा गया है कि आत्मा का मूल स्वरूप कैसा है लेकिन वह कैसी स्थिति मे आ पडा है ? आत्मा को कितनी अनुकूल सामग्री उपलब्ध है, लेकिन आत्मा उसका कैसा उपयोग कर रही है ! आत्मा का कार्य यह बडा ही विपरीत है। राजा ने प्रसन्न होकर किसी को उच्चकोटि की गजवेल की तलवार भेंट की। मगर भेंट लेने वाला ऐसा मूर्ख निकला कि उस तलवार से घास काटने लगा। क्या उसका यह कार्य तलवार का दुरुपयोग करना नही है ? इसी प्रकार आत्मा को यह मानव-शरीर ऐसा मिला है जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। तीर्थङ्कर-अवतार आदि समस्त पुरुष इसी शरीर मे हुए हैं। ऐसा उत्कृष्ट शरीर पाकर भी यदि विषयकषाय मे इसका उपयोग किया गया तो अन्त मे पश्चात्ताप करना पडेगा। जो मनुष्य जन्म का माहात्म्य समझेगा और आत्मकल्याण साधना चाहेगा, वह सच्चे हृदय से गर्हा किये विना रह ही नही सकता।

मेरी ऐसी धारणा है कि यदि मनुष्य अपने सुबह से शाम तक के काम किसी विश्वस्त मनुष्य के समक्ष प्रकट कर दिया करे तो उसके विचारो और कार्यों में बहुत प्रशस्तता आ जायेगी। गृहस्थो को और कोई न मिले तो पति-पत्नी आपस मे ही अपने-अपने कार्य एक दूसरे पर प्रकट कर दिया करे तो उन्हे अवश्य लाभ होगा। अपने कृत्य प्रकाशित करने से विचारो का आदान-प्रदान होता है और दोषो की शुद्धि होने से जीवन उन्नत बनता है।

गर्हा जीवनशुद्धि की कुजी है। भगवान् ने कहा है कि गर्हा करने से आत्मा पवित्र बनती है। गर्हा से आत्मा किसी भी अवस्था में पतित नही होती वरन् उन्नत ही होती

है। आत्मा के पतन का कारण शारीरिक मोह है। आत्मा को शारीरिक मोह मे फँसाकर गिराना उचित नही है। आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न है। आत्मा अमर और अविनाशी है, जब कि शरीर नाशवान् है। गीता मे भी कहा है—

न जायते म्रियते वा कदाचित्,
नायं भुक्त्वा भविता वा न अन्यः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽय पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थात्–शरीर ही जनमता और मरता है। आत्मा न जनमता है, न मरता है। आत्मा तो अजर और अमर है।

जैनशास्त्र की दृष्टि से भी आत्मा अनादिकाल से है। अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी आत्मा जैसा का तैसा है। आत्मा नरक मे जाकर न मालूम कितनी बार तेतीस सागर की स्थिति भोग चुका है। फिर भी उसका स्वरूप ज्यो का त्यो है। गीता कहती है, आत्मा का नाश नही होता। आत्मा ऐसी ज्योति है जो कभी बुझती नही। किसी दिन उसका नाश नही हुआ, होगा भी नही। आत्मा अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है। बहुतसी वस्तुये ऐसी भी है जो नित्य होने पर भी आज किसी रूप मे है और कल किसी और रूप मे होगी। मगर शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से आत्मा सदैव एक स्वभाव मे रहता है। इस प्रकार आत्मा शाश्वत है और साथ ही पुरातन अर्थात् सनातन है।

इस सनातन आत्मा को मामूली बात के लिए पतित करना कितनी भयकर भूल है? इस भूल के सशोधन का

एक कारगर उपाय गर्हा करना है । सच्ची गर्हा करने से आत्मोन्नति होती ही है, क्योकि गर्हा आत्मोन्नति और आत्म-शुद्धि का प्रधान कारण है । सच्ची गर्हा करने वाला पुरुष आत्मा को कभी पतित नही होने देता। चाहे जैसा भयानक सकट आ पडे, फिर भी आत्मा को पतित न होने देना ही सच्ची गर्हा का अवश्यम्भावी फल है ।

राजा हरिश्चन्द्र का राजपाट वगैरह सब चला गया । उसने इन सब चीजो को प्रसन्नतापूर्वक जाने दिया, मगर आत्मा को पतन से बचाने के लिए सत्य न जाने दिया । आखिर उस पर इतना भयकर सकट आ पडा कि एक ओर मृत पुत्र सामने पडा है और दूसरी ओर उसकी पत्नी दीन वाणी मे कहती है कि पुत्र का सस्कार करना आपका कर्त्तव्य है। यह आपका पुत्र है। आप इसका सस्कार न करेंगे तो कौन करेगा ? पत्नी के इस प्रकार कहने पर भी हरिश्चन्द्र ने यही उत्तर दिया कि मेरे पास इसका सस्कार करने की कोई सामग्री नही है ।

हरिश्चन्द्र की पत्नी तारा ने कहा—अग्निसस्कार करने के लिए और क्या सामग्री चाहिए ? लक्कड सामने पडे ही हैं। फिर अग्निसस्कार करने मे विलब की क्या आवश्यकता है?

हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया - तुम ठीक कहती हो, पर यह लक्कड मेरे नही, स्वामी के है। स्वामी की आज्ञा है कि कर देने वाले को ही लकडिया दी जाए । अतएव यह लकडिया विना मोल नही मिल सकती ।

यह सुन कर तारा बोली—आपका कथन सत्य है; पर आप एक टके का कर किससे माँग रहे है ? क्या मैं

आपकी पत्नी नही हू ? इस समय मेरे पास एक भी टका नही है।

राजा ने कहा— रानी ! पुत्रवियोग के कारण तुम मोह मे पड गई हो। तुम अपने ध्येय को भी भूली जा रही हो। विचार करो, तुम कौन हो ? तुम एक राज्य की महा-रानी हो, फिर भी केवल सत्य को पालन करने के लिए ही दूसरे के घर की दासी वनी हो। तुम मुझे स्वामी कहती हो सो मैं पूछता हूं कि मेरी हड्डियो को स्वामी कहती हो या आत्मा को ? तुम भलीभाति जानती हो कि जो पुरुष एक दिन प्रतापशाली राजा था और जिस ओर नजर फेरता था उसी ओर लक्ष्मी विलास करने लगती थी, वह राजा सत्य के लिए ही दूसरे का दीन दास वना है। जिस सत्य का पालन करने के लिए मैने और तुमने इतने कष्ट उठाये हैं, क्या आज उसी सत्य का परित्याग कर देना उचित है? अगर मै कर वसूल किये विना, स्वामी की आज्ञा के विरुद्ध लकडियाँ दे दूं और पुत्र का अग्निसस्कार कर डालू तो सत्य का विघात होगा या नही ?

राजा हरिश्चन्द्र का यह सत्याग्रह सच्ची गर्हा का स्वरूप स्पष्ट करता है। आज तुम्हे भी विचार करना चाहिए कि सत्य का पालन करने के लिए कितना त्याग सीखने की आवश्यकता है ! नाशशील शरीर के लिए तो थोडा–वहुत त्याग किया जाता है किन्तु अजर-अमर आत्मा के लिए तनिक भी त्याग करते नही वन पड़ता ! यह कितनी भयानक भूल है।

हरिश्चन्द्र का कथन सुनकर रानी वोली— "वास्तव मे आपका कहना ठीक है। सत्य का त्याग करना कदापि

उचित नही है, परन्तु पुत्र का शव यों ही पडे रहने देना और उसका संस्कार न करना भी क्या उचित है?"

राजा ने उत्तर दिया—' जो होनहार होगा, होगा। परन्तु शव के संस्कार के लिए सत्य का घात करना उचित नही। सत्य सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए सर्वप्रथम सत्य की ही रक्षा करनी चाहिए।"

कतिपय लोग कह देते हैं—"क्या किया जाये, अमुक ऐसा कारण उपस्थित हो गया कि उस समय सत्य का पालन करना अत्यन्त कठिन था। किसी भी युक्ति से उस समय काम निकालना आवश्यक था।" इस प्रकार कहकर लोग सत्य की उपेक्षा करते हैं। किन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि सत्य पर विश्वास रखने से तुम्हारे भीतर अलौकिक शक्ति का प्रादुर्भाव होगा और उस दशा मे तुम्हारा कोई भी कार्य अटका नही रहेगा। शास्त्र मे कहा ही है—

देवा वि तं नमंसति जस्स धम्मे सया मणो।

सत्य का निरन्तर पालन करने से देवता भी तुम्हारी सेवा मे उपस्थित होंगे। मगर आज तो यह कहा जाता है—

देव गया द्वारिका, पीर गया मक्का।
अगरेजो के राज मे, ढेढ मारे धक्का।

अर्थात्—आजकल कलियुग चल रहा है। देव भी न जाने कहा विलीन हो गये है!

मगर देवो को देखने से पहले अपनी आत्मा को क्यों नही देखते? तुम्हारे हृदय के भाव देखकर ही देव आ सकते हैं। तुम में धर्म होगा तो देव अपने आप आ जाएँगे। अतएव धर्म को अपनाओ—हृदय मे धर्म को स्थान दो।

रानी ने राजा से कहा— पुत्र के शव का सस्कार करने का एक उपाय है । उस उपाय से पुत्र के शव का अग्निसस्कार भी हो जायेगा और सत्य की रक्षा भी हो जायेगी । राजा के पूछने पर रानी ने उपाय बतलाया –मैंने जो साडी पहन रखी है, उसमे से आधी साडी से अपनी लाज बचा लूगी और आधी आपको कर के रूप मे दे देती हू । आप आधी साडी लेकर पुत्र का सस्कार कीजिए ।

राजा ने यह उपाय स्वीकार किया । कहा -ठीक है, इससे दोनो कार्य सिद्ध किये जा सकते है ।

रानी इस विचार से बडी प्रसन्न थी कि इस उपाय से मेरे और मेरे पति के सत्य की रक्षा भी हो जायेगी और पुत्र का अग्निसस्कार भी हो जायेगा । रानी में उस समय ऐसा वीररस आया कि वह तत्काल ही अपनी आधी साडी फाड देने को तैयार हुई ।

महारानी तारा तो सत्यधर्म की रक्षा के लिए अपनी आधी साडी फाड देने को तैयार है पर आप अपने धर्म की रक्षा के लिए और अहिंसा का पालन करने के लिए चर्बी वाले वस्त्र भी नही तज सकते ! तुम्हे गरीब प्राणियों पर इतनी भी दया नही आती ! चर्बी वाले वस्त्र पहनने से उन्हे कितना दु ख सहन करना पडता है ? मालूम हुआ है कि यत्रवादी लोग गरीब मजदूरो के हित का ध्यान नही रखते । अगर कुछ ध्यान देते भी है तो बस उतना ही जिससे उनके स्वार्थ मे बाधा न आये । गरीबो पर दया रखकर वे उनके हित के लिए कुछ भी नही करते । प्राय. यन्त्रवादी लोगो में गरीबो के प्रति दया होती ही नही । ऐसी दशा मे तुम चर्बी वाले मिल के वस्त्र पहनकर गरीबो का दु ख क्यो बढाते

हो ? एक बार मिल के और खादी के कपडो की तुलना करके देखो तो मालूम होगा कि दोनो मे कितना अधिक अन्तर है। यह अन्तर जान लेने के बाद अहिंसा की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से और आर्थिकदृष्टि से खादी अपनाने की इच्छा हुए बिना नही रहेगी ।

गरीबो पर दया करने के लिए ही गाधीजी ने अधिक वस्त्र पहनना त्याग दिया है। उन्होने वस्त्रो की मर्यादा बाध ली है और मर्यादित वस्त्रो से ही अपना काम चलाते हैं। वस्तुत इस उष्ण देश मे अधिक वस्त्रो की आवश्यकता भी नही है। वस्त्र मुख्यरूप से लज्जा की रक्षा के लिए ही हैं। अगर इसी दृष्टि से वस्त्रो का उपयोग किया जाये तो बहुत लाभ होगा। इस देश मे यद्यपि थोडे ही वस्त्रो से काम चल सकता है, फिर भी यहाँ के लोग एक-दूसरे के ऊपर, कम से कम तीन वस्त्र प्राय पहनते ही हैं। तीन से कम वस्त्र पहनना फैशन के खिलाफ समझा जाता है। ठूस-ठूंस कर पहने हुए वस्त्रों के कारण भले ही पसीना हो और वह भीतर ही सूखकर शरीर को हानि पहुचाए, मगर तीन से कम वस्त्र पहनना तो फैशन के विरुद्ध ठहरा !

तुम्हे देखना चाहिए कि तुम्हारे गुरु किस प्रकार रहते है। हम तुम्हारे बीच मे बैठे है, इसी कारण लज्जा की रक्षा के लिए हमे वस्त्र ओढना पडता है। अगर हम जगल मे जाकर, एकान्त मे बैठे तो हमे वस्त्र की आवश्यकता ही न रहे। तुम लोग ऐसे त्यागी गुरुओ के उपासक होते हुए भी चर्बी लगे वस्त्रो तक का त्याग नही कर सकते, यह कितनी अनुचित बात है !

रानी ने वीरता के आवेश मे अपनी आधी साड़ी

फाड डाली। रानी ने अपनी साडी क्या फाडी, मानो अपने कष्ट ही फाड कर फेंक दिये। उसकी साड़ी के तार क्या टूटे, मानो उसका तीव्र अन्तरायकर्म ही टूट गया !

रानी को इस प्रकार साडी फाडते देखकर राजा को दुःख हुआ। उसने सोचा–मेरी पत्नी के पास एक ही साडी थी और वह भी आधी दे देनी पडी ! लेकिन दूसरे ही क्षण यह विचार कर प्रसन्नता भी हुई कि ऐसा करने से हमारे सत्य की रक्षा हुई है ! अन्त में राजा-रानी का कष्ट दूर हुआ और उनके सत्य की भी रक्षा हुई।

कहने का आशय यह है कि संकट सिर पर आने पर भी अपने आपको पतित न होने देना चाहिए। सत्यधर्म की ऐसी दृढ़ता जिसमें होगी, वही सच्ची गर्हा कर सकेगा।

आठवाँ बोल

सामायिक

पिछले प्रकरण मे गर्हा का विवेचन किया गया है। गर्हा का विपय इतना गम्भीर है कि उसकी विस्तृत व्याख्या करने मे महीनो और वर्ष भी लग सकते है । मगर इतने अवकाश के अभाव मे उसे सक्षेप मे ही समाप्त किया गया है । गर्हा के विषय मे जो कुछ भी कहा गया है, उसका सार यही है कि बालक अपने माता-पिता के सामने जैसे नि सकोचभाव से सभी बाते कह देता है, उसी प्रकार गुरु आदि के समक्ष अपने समस्त पापो-दोषो को निवेदन कर देना चाहिए। यही सच्ची गर्हा है । सच्ची गर्हा करने से अभिमान पर विजय प्राप्त होती है । बारीकी से अपने दोषो का निरीक्षण करने वाला और उन्हे गुरु वगैरह के समक्ष प्रकट कर देने वाला आत्मबली ही अभिमान को जीत सकता है । इस प्रकार अहकार को जीतने वाला अपनी आत्मा का कल्याण-साधन करता है ।

समभाव के अभाव मे सच्ची गर्हा नही हो सकती । अतएव समभाव के विपय मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है —

मूलपाठ

प्रश्न—सामाइएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सामाइएण सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

अधिक है ? और अगर सभी लोग पढ लिख जायें तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नही, तो क्या पढना बुरी बात है ? दुनिया में अपढ अधिक है और अपढो द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढना छोड देता है ? ससार मे गरीबो की सख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फेंक देता है ? रोगियो की सख्या अधिक जानकर कोई स्वय रोगी बनने की इच्छा करता है ?

ससार मे रोगी भले ही अधिक हो, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नही बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया मे विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा ? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते हैं कि समभाव से ससार का काम नही चल सकता, उन्हे सोचना चाहिए कि जब वे दुधमुँहे बालक थे और अपने आप खा-पी नही सकते थे, चल-फिर भी नही सकते थे, तब उनके माता-पिता ने उन्हें आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या आज वह जीवत होते ? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा मे कृतघ्न होकर क्यो कहते हो कि समभाव से काम नही चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है।

कोई कितना ही क्रूर क्यो न हो, उसमे भी किसी न

किसी रूप मे, थोडी-बहुत मात्रा में, समभाव विद्यमान रहता है और उस समभाव की बदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिहनी को लीजिए। सिंहनी क्रूर स्वभाव वाली है, यह सभी कहते है। लेकिन क्या वह अपने बच्चो के लिए भी क्रूर है? क्या वह अपने बच्चो पर समभाव नही रखती? वह अपने बच्चो पर सम-भाव न रखती और उनके साथ भी क्रूरता का ही व्यवहार करती तो आज उसकी जाति का अस्तित्व होता? इस प्रकार ससार मे सर्वत्र समभाव की मात्रा पाई जाती है और सम-भाव के कारण ही ससार का अस्तित्व है। यो प्रत्येक प्राणी मे न्यूनाधिक समभाव पाया ही जाता है परन्तु ज्ञानी पुरुष समभाव पर ज्ञान का कलश चढाना चाहते है। ज्ञानपूर्वक समभाव ही सामायिक है।

आप लोग सामायिक मे बैठते है पर उस समय आपका प्राणीमात्र पर समभाव रहता है या नही? आप सामायिक मे बैठे हो। उसी समय कोई व्यक्ति आकर आपके कानो मे से मोती निकाल ले जाये तो आप चिल्लाहट मचायेंगे? उस समय आपको विचारना चाहिए—मोती ले जाने वाला बेचारा दुखी होगा। उसे उसकी आवश्यकता होगी, इसलिए वह ले गया है। इस प्रकार विचार करके आप मोती ले जाने पर क्रोध न करें तो समझना चाहिए कि आप में सम-भाव है। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही आपकी सच्ची सामायिक होगी। यही नही, कोई पुरुष शरीर पर आघात करने आये, फिर भी उस पर विषमभाव उत्पन्न न होना सामायिक की कसौटी है। कदाचित् कोई सहसा इस उच्च स्थिति पर न पहुंच सके तो भी लक्ष्य तो यही होना

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर— सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है।

व्याख्यान

यहां सक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है। अन्य ग्रन्थो मे इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है। विशेपावश्यक भाष्य मे सामायिक के विषय में बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओ का आधार है। जैसे आकाश सभी के लिए आधारभूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधारभूत, इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणो का आधार है। सामायिक आधार है और दूसरे गुण सब आधेय हैं। आधार के विना आधेय टिक नही सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव मे अन्य गुण भी नही टिक सकते। जैसे पृथ्वी के आधार विना कोई वस्तु नही टिक सकती और आकाश के आधार विना पृथ्वी नही टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये विना दूसरे गुण नही टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग से 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है, उसी दृष्टि से दूसरो की आत्मा को देखना समभाव कहलाता है।

इस प्रकार का समभाव एकदम नही आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन मे समभाव का आना कठिन भी नही है।

कहा जा सकता है कि – 'ऐसा समभाव लेकर बैठे तो पेट भी नही भर सकता और आखिर भूखो मर कर प्राण गँवाने पडेंगे। ससार-व्यवहार चलाने के लिए छल-कपट करना आवश्यक है और जिसमे जितना बल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल-कपट करना चाहिए। ऐसा न करके, समभाव को छाती से चिपटा कर बैठे रहे तो जीवन कष्टमय बन जायेगा।'

इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते है– समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय बनता ही नही है। विषम भाव से ही कष्टो की सृष्टि होती है। बहुत से लोगो की यह मान्यता है कि 'बलीया के दो भाग' वाली नीति रखने से ही जीवन-व्यवहार ठीक ठीक चल सकता है। परन्तु ज्ञानी पुरुषो का कथन इसमे विपरीत है। उनके कथनानुसार सम-भाव धारण करने से ही जीवन–व्यवहार भली–भाँति चलता है।

इस प्रकार दोनो प्रकार के लोग अपनी-अपनी मान्यता प्रकट करते है। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता है। मगर तटस्थभाव से विचार करने पर अन्त मे यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषो का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढे-लिखे लोगो से चल रहा है या अपढ लोगो से? अगर पढे लिखे लोगो से ही काम चलता हो तो दुनिया मे पढे-लिखे अधिक हैं या अपढ लोग

अधिक हैं ? और अगर सभी लोग पढ लिख जाये तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा? नही, तो क्या पढना बुरी बात है ? दुनिया मे अपढ अधिक है और अपढो द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढना छोड देता है ? ससार मे गरीबो की सख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फेक देता है ? रोगियो की सख्या अधिक जानकर कोई स्वय रोगी बनने की इच्छा करता है ?

ससार मे रोगी भले ही अधिक हो, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नही बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया मे विषमभाव भी है। मगर विषमभाव अच्छा है या बुरा ? जैसे रोग बुरा है उसी प्रकार विषमभाव बुरा है। विषमभाव रोग के समान है और समभाव आरोग्यता के समान है। विषमभाव का रोग समभाव द्वारा ही मिटता है।

जो लोग कहते हैं कि समभाव से ससार का काम नही चल सकता, उन्हे सोचना चाहिए कि जब वे दुधमुँहे बालक थे और अपने आप खा-पी नही सकते थे, चल-फिर भी नही सकते थे, तब उनके माता-पिता ने उन्हे आत्मतुल्य न मानकर उनकी रक्षा न की होती, तो क्या आज वह जीवित होते ? इस प्रकार तुम्हारा जीवन समभाव की कृपा से ही टिका हुआ है। ऐसी दशा मे कृतघ्न होकर क्यो कहते हो कि समभाव से काम नही चल सकता और विषमभाव से ही काम चल सकता है।

कोई कितना ही क्रूर क्यो न हो, उसमे भी किसी न

किसी रूप मे, थोडी-बहुत मात्रा में, समभाव विद्यमान रहता है और उस समभाव की वदौलत ही उसका तथा उसकी जाति का अस्तित्व है। उदाहरणार्थ सिहनी को लीजिए। सिंहनी क्रूर स्वभाव वाली है, यह सभी कहते है। लेकिन क्या वह अपने वच्चो के लिए भी क्रूर है? क्या वह अपने वच्चो पर समभाव नही रखती? वह अपने बच्चो पर समभाव न रखती और उनके साथ भी क्रूरता का ही व्यवहार करती तो आज उसकी जाति का अस्तित्व होता? इस प्रकार ससार मे सर्वत्र समभाव की मात्रा पाई जाती है और समभाव के कारण ही ससार का अस्तित्व है। यो प्रत्येक प्राणी मे न्यूनाधिक समभाव पाया ही जाता है परन्तु ज्ञानी पुरुष समभाव पर ज्ञान का कलश चढाना चाहते है। ज्ञानपूर्वक समभाव ही सामायिक है।

आप लोग सामायिक मे वैठते है पर उस समय आपका प्राणीमात्र पर समभाव रहता है या नही? आप सामायिक मे वैठे हो। उसी समय कोई व्यक्ति आकर आपके कानो मे से मोती निकाल ले जाये तो आप चिल्लाहट मचायेंगे? उस समय आपको विचारना चाहिए—मोती ले जाने वाला वेचारा दुखी होगा। उसे उसकी आवश्यकता होगी, इसलिए वह ले गया है। इस प्रकार विचार करके आप मोती ले जाने पर क्रोध न करें तो समझना चाहिए कि आप में समभाव है। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेने पर ही आपकी सच्ची सामायिक होगी। यही नही, कोई पुरुष शरीर पर आघात करने आये, फिर भी उस पर विषमभाव उत्पन्न न होना सामायिक की कसौटी है। कदाचित् कोई सहसा इस उच्च स्थिति पर न पहुँच सके तो भी लक्ष्य तो यही होना

चाहिए। सैनिक एकदम सही निशाना लगाना नही सीख लेता, मगर सावधान होकर अभ्यास करता है और अन्त मे सफल निशानेबाज बन जाता है, इसी प्रकार जीवनसिद्धि का लक्ष्य साधने के लिए समभाव का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। सैनिक अभ्यास करते-करते बहुत वार निशाना चूक जाता है, फिर भी उसको ध्यान तो लक्ष्य ताकने का ही होता है। इसी प्रकार जीवन मे पूर्ण समभाव न उतारा जा सके तो भी लक्ष्य यही होना चाहिए और शनै-शनैः ही सही, पर उसी ओर अग्रसर होते जाना चाहिए। अभ्यास करते रहने से किसी दिन पूर्ण सामायिक प्राप्त होगी और जीवन सम्भावमय बन जायेगा। सामायिक करते समय इतने समभाव का अभ्यास तो कर ही लेना चाहिए कि जव आप सामायिक मे बैठे हो और उस समय कोई आपको गालियाँ दे तो भी उस पर समभाव रह सके। आपके अन्तःकरण मे इतना समभाव आ जाये तो आपको समझना चाहिए कि अव हमारा तीर निशाने पर लगने लगा है। इससे विपरीत, मुंहपत्ती बाँधते-बाधते कानो मे निशान पड़ जाएँ और सामायिक करते-करते वर्षों व्यतीत हो जाएँ, फिर भी जव आप सामायिक मे बैठे और कोई गाली दे तो आप समभाव न रख सके तो समझना चाहिए कि आपका लक्ष्य कही है और आप तीर कही अन्य जगह मार रहे है। यहां तक जो कुछ कहा गया है वह देशविरति सामायिक को लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया है। सर्वविरति सामायिक के लिए इससे भी अधिक समझना चाहिए। सर्वविरति सामायिक मे पूर्ण समभाव की आवश्यकता रहती है।

सामायिक अथवा समभाव का फल क्या है ? इस

प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि सामायिक से सम-भाव की प्राप्ति होती है और समभाव से सावद्य योग की निवृत्ति होती है। मन, वचन और काय के योग से जो पाप होते है, वह सावद्य योग कहलाते हैं। यह सावद्य योग सामायिक से दूर हो जाता है।

सामायिक का फल बतलाते हुए अनुयोगद्वार सूत्र मे तथा अन्यत्र भी कहा गया है —

जस्स सामाणिओ अप्पा, सजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइय होइ, इह केवलिभासिय॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइअं होइ, इइ केवलिभासियं॥

इन गाथाओ का आशय यह है कि समभाव से वर्तने वाले के ही तप-नियम-सयम आदि सफल होते हैं। समभाव के अभाव मे तप और नियम आदि सफल नही होते। तप करना और दूसरो को कष्ट देना, सयम लिया मगर दूसरो पर हुकूमत चलाई, तो यह तप और सयम समभावविहीन है। तप-सयम की सच्ची सफलता समभाव की विद्यमानता मे ही है।

सामायिक की अवस्था मे आक्रमणकारी पर भी क्रोध नही आना चाहिए। क्रोध न आये तो समझ लीजिए कि मैं भगवान् के कथानुसार समभाव का पालन कर रहा हूं। इसके विरुद्ध अगर क्रोध भडक उठता है तो ज्ञानी कहते हैं— अभी तुझमे सयम नही आया, क्योकि तू समभाव से दूर है। सयम तो समभावपूर्वक ही होता है। समभाव के अभाव मे सयम टिक ही नही सकता। इस प्रकार सामायिक करते

समय क्रोध भी नही करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नही करना चाहिए। जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझ नही, मेरे समभाव को है। अतएव मुझे तो समभाव ही की रक्षा करना चाहिए। अहंभाव, समभाव के विरुद्ध है अतएव अहंभाव का तो त्याग करना ही चाहिए। जब मन में अहंभाव आये तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझमे समभाव नही आया है।

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य मे सामायिक की आवश्यकता है अर्थात् समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के बिना किसी भी कार्य और किसी भी स्थान पर शान्ति नही मिल सकती, फिर भले ही वह कार्य राजनीतिक हो या सामाजिक हो। सामायिक होने पर ही सब कार्यों मे शान्ति मिल सकती है। जिसमें समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है। और जिस सामायिक से सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृत्ति होती है, वह सावद्य योग क्या है? इस सम्बन्ध मे कहा है—

कम्मं सावज्जं ज गरहियं ति कोहाईओ व चत्तारि।
सह तेहिं जो होउ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स ॥

इस गाथा मे सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योकि समस्त निन्दनीय कर्म कपाय के अधीन होकर ही किये जाते है। निन्दनीय कर्मों का कारण कषाय है, अत कारण में कार्य का उपचार करके कषाय को भी सावद्य योग कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (प्रवृत्ति) की जाती है वह सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

इस गाथा मे आये हुए 'सावज्ज' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैंने कहा था-

आरात सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्य.।

अथर्त्-समस्त हेय धर्मो-पापकर्मो का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषो द्वारा त्यागे गये हैं अथवा उनके द्वारा जो निन्दित हैं, वे सब कार्य सावद्य हैं। श्रेष्ठ पुरुष कभी निन्दित कार्य नही करते। जिन कार्यों से जगत् का कल्याण होता है वह श्रेष्ठ कार्य हैं और ससार का अहित करने वाले कार्य निन्दित कर्म है। सारा ससार जूआ खेलने लगे तो क्या ससार का अहित नही होगा? ऊपर से तो जूआ मे अल्प आरम्भ दिखाई देता है परन्तु वास्तव मे जूआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र मे उसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार ससार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगें तो

नवाँ बोल

चतुर्विंशतिस्तव

प्रश्न—चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

शब्दार्थ

प्रश्न— चौबीस जिनो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है ।

व्याख्यान

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करो का स्तव करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है । चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है? यह प्रश्न पूछा गया है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है ।

तीर्थङ्करो के स्तवन के अनेक भेद हैं । जैसे—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, भावस्तवन, कालस्तवन,

क्षेत्रस्तवन आदि । इन सव भेदो को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक है ।

नामस्तवन के भी दो भेद है। एक भेद- नामस्तवन, दूसरा अभेद-नामस्तवन । भगवान् ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना और भगवान् महावीर को महावीर कहना अभेद-नाम है । इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद- नामस्तवन कहलाता है । किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव, या अनेक जीवो अथवा अनेक अजीवो को तीर्थंकर का नाम देना भेद-नाम कहलाता है । भेद-नाम मे ओर अभेद-नाम में बहुत अन्तर है । अभेद-नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद-नाम से किसी भी वस्तु को, किसी भी नाम से सवोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद-नाम है लेकिन वालक का रुपया नाम रख देना भेद-नाम है। भेद-नाम से भेद जैसा और अभेद-नाम से अभेद जैसा कार्य होता है। भेद-नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती और अभेद-नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है । थाली मे भोजन के नाम से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाये तो उससे क्षुधा शान्त नही होती, क्योकि वह भोजन अभेद-नाम नही वरन् भेद-नाम है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नही मिट सकती। इस प्रकार के भेद-नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती । अर्थक्रिया तो अभेद-नाम से ही सिद्ध होती है। यह नामस्तवन की वात हुई।

इसी प्रकार तीर्थङ्करो का नाम लिखकर उन नामो मे स्थापना की जाये या मूर्ति मे उनकी स्थापना की जाये तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो मानते है, मगर अभेद-निक्षेप से नही मान सकते। इसी प्रकार इस तरह की नामस्थापना

दुनिया का काम कैसे चल सकता है ? क्या उस स्थिति में ससार दुखो से व्याप्त नही हो जायेगा ? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये है । इसी तरह के और-और कार्य भी सावर्ज्य कार्य है । निंद्य कार्य त्याज्य ही है । अतएव निन्दित कार्यो का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा । समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है । अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और समभाव की रक्षा करो । इसी मे कल्याण है ।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है । एक वस्तु से निवृत्त होने के लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है । दूसरी का अवलम्बन लिए विना एक से निवृत्त होना कठिन है । उदाहरणार्थ - आप लोग शाकाहारी है इसलिए मासाहार से बचे हुए है । अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मासाहार से बचना क्या सभव था ? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए विना किसी का त्याग नही किया जा सकता । यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नही हो सकती । अतएव सर्वप्रथम मासाहार से बचना आवश्यक है । मासाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो । शाकाहार का अवलम्बन लेना भी मासाहार छोडने और धीरे-धीरे निराहार बनने का एक मार्ग है । महारभी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारभी वस्त्र का आलम्बन लिया ही जाता है । इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता

है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आलम्बनभूत है।

सावद्य योग से निवृत्त होने की इच्छा करने वाले को विचार करना चाहिए कि मुझे सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश किसने दिया है? अगर तीर्थङ्कर भगवान् ने यह उपदेश न दिया होता तो कौन जाने, सावद्य योग से निवृत्त होने की बात भी सुनाई देती या नही? ऐसी अवस्था मे जिन्होने सावद्य योग से निवृत्त होने का उपदेश दिया है, उन चौवीस तीर्थङ्करो की प्रार्थना–स्तुति करना आवश्यक है। सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए यह एक आलम्बन है। चौवीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न का उत्तर अगले बोल मे दिया जायेगा।

नवाँ बोल

चतुर्विशतिस्तव

प्रश्न—चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥९॥

शब्दार्थ

प्रश्न—चौबीस जिनो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चतुर्विशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है ।

व्याख्यान

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करो का स्तव करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विशतिस्तव कहलाता है । चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है? यह प्रश्न पूछा गया है । इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है ।

तीर्थङ्करो के स्तवन के अनेक भेद है । जैसे—नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, भावस्तवन, कालस्तवन,

क्षेत्रम्तवन आदि । इन सव भेदो को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक है ।

नामस्तवन के भी दो भेद है। एक भेद-नामस्तवन, दूसरा अभेद-नामस्तवन । भगवान् ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना और भगवान् महावीर को महावीर कहना अभेद-नाम है । इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद-नामस्तवन कहलाता है । किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव, या अनेक जीवो अथवा अनेक अजीवो को तीर्थंकर का नाम देना भेद-नाम कहलाता है । भेद-नाम मे ओर अभेद-नाम में बहुत अन्तर है । अभेद-नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद-नाम से किसी भी वस्तु को, किसी भी नाम से सबोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद-नाम है लेकिन वालक का रुपया नाम रख देना भेद-नाम है । भेद-नाम से भेद जैसा और अभेद-नाम से अभेद जैसा काय होता है। भेद-नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती और अभेद-नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है । थाली मे भोजन के न म से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाये तो उससे क्षुधा शान्त नही होती, क्योकि वह भोजन अभेद-नाम नही वरन् भेद-न।म है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नही मिट सकती । इस प्रकार के भेद-नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती । अर्थक्रिया तो अभेद-नाम से ही सिद्ध होती है । यह नामस्तवन की वात हुई।

इसी प्रकार तीर्थङ्करो का नाम लिखकर उन नामो मे स्थापना की जाये या मूर्ति मे उनकी स्थापना की जाये तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो म.नते है, मगर अभेद-निक्षेप से नही मान सकते। इसी प्रकार इस तरह की नामस्थापना

को वन्दना भी नही कर सकते । हम अभेद-निक्षेप को ही वन्दना करते हैं। भेद-निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्यतीर्थङ्करो की बात लीजिए । जो चौवीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं, वे जब तक केवली नही हुए थे, वरन् राज्य अवस्था मे थे, तब तक द्रव्यतीर्थङ्कर थे। ऐसे द्रव्य-तीर्थङ्करो का स्तवन करना द्रव्यस्तवन है। हम द्रव्यतीर्थङ्कर को नमस्कार नही करते और न उनका स्तवन ही करते है, किन्तु जब उनमे तीर्थङ्कर के योग्य गुण प्रकट हो जाते है तभी उन्हे नमस्कार करते है और तभी उनका स्तवन करते है।

तीर्थङ्करो को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किसलिए किया जाता है, यह बात प्रतिक्रमण मे बोली ही जाती है—

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ।।

अर्थात्— चौवीस तीर्थङ्कर भगवान लोक मे उद्योत करने वाले है, मैं उनका स्तवन करता हू । ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नही होता तब तक वह वस्तु दिखाई नही देती । प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है । भगवान् पचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले है। हम लोग भगवान् के ज्ञान-प्रकाश से ही पचास्ति-काय को जान पाते है ।

श्रीभगवतीसूत्र मे मंडूक श्रावक का प्रकरण आता है।

उसमे कहा गया है कि मडूक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था—"तुम्हारे भगवान् महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमे से चार को अरूपी और एक पुद्गल को रूपी कहते है। लेकिन अरूपी क्या तुम्हे दिखाई देता है?" मडूक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—"हम अरूपी को नही देख सकते।"

कालोदधि—जिस वस्तु को तुम देख नही सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखड नही तो क्या है?

मडूक—हे देवानुप्रिय! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए; जो न देखी जा सके उसे नही मानना चाहिए। किन्तु मैं पूछता हू कि पवन, गन्ध और शब्द को तुम आखो से देख सकते हो? समुद्र को एक किनारे पर खडे होकर दूसरा किनारा देख सकते हो? अगर नही, तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नही मानना चाहिए? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि जो वस्तु देखी न जा सके उसे मानना ही नही चाहिए।

मडूक का यह युक्तिवाद सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ। वह सोचने लगा—भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल हैं तो स्वय भगवान् कैसे होगे?

मडूक श्रावक जब भगवान् महावीर के पास आया तब भगवान् ने उससे कहा—"हे मडूक! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था?"

मडूक बोला—हा भगवन्! मैंने यही उत्तर किया

था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही है।

भगवान् ने कहा हे मडूक ! तूने कालोदधि को समोचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मै धर्मास्तिकाय देखता हू, तो तुम अनन्त अरिहन्तो की अवलेहना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया, वह समीचीन है।

लोक-व्यवहार मे भी अनुमान को प्रमाण मानना पडता है। अनुमान को प्रमाण माने बिना व्यवहार मे भी काम नही चल सकता। ऐसी स्थिति मे धर्म के विपय में अनुमान प्रमाण क्यो न माना जाये ? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उद्गमस्थान का अन्दाज लगाता है। आप सिर्फ नदी देख रहे हैं, उसका उद्गमस्थान आपको दिखाई नही देता, फिर भी नदी देखने से उसका उद्गमस्थान मानना ही पडता है। इसी प्रकार एक भाग को देखने से दूसरा भाग भी मानना पडता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवान् ने अपने ज्ञान-प्रकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक बात का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान् तीन लोक मे उद्योत करने वाले हैं, उन्हे नमस्कार करता हू। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान् धर्म की स्थापना करते है, उन्हे भी मैं नमस्कार करता हू। ऐसे अरिहन्त भगवान् चौवीस है और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी है।

चौवीस तीर्थकरो का स्तवन तो बहुतसे लोग करते है, किन्तु स्तवन के गुण भलीभाति समझकर स्तवन किया जाये तो सब प्रकार की शकाए निर्मूल हो जाती है। चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान् ने

कहा है कि चौवीस तीर्थंकरो की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौबीस तीर्थंकरो का स्तवन करने से स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नही कर सकते । अर्थात् उसका दर्शन अत्यन्त निर्मल और प्रगाढ हो जाता है । दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौवीस तीर्थंकरो का स्तवन निरन्तर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टि-गोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नही देता फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भग-वान् के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थंकरो का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी । मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा । शास्त्र मे कहा है:—

सद्धा परम दुल्लहा ।

अर्थात् — श्रद्धा बहुत दुर्लभ है ।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय मे है, जो श्रद्धा 'जीवित' होती है । जैसे मुर्दा मनुष्य किसी काम का नही समझा जाता, उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम की नही होती। अगर किसी मनुष्य मे मुर्दापन आता दिखाई देता है तो उसे दवा देकर स्वस्थ किया जाता है, इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा मे मुर्दापन आ रहा हो तो उसे भी चौवीस जिनो की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ । ऐसा करने से श्रद्धा गुण की प्राप्ति होगी। अतएव चौवीस तीर्थ-

कम्मे" का अर्थ नही है । इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध काम नही करना चाहिए। राजा के विरुद्ध काम नही करना चाहिए यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप मे कायरता आ गई है ।

भीष्म कहते हैं– "हे युधिष्ठिर ! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खीचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नही था कि हम इस कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते?' मगर हम सब टुकुर–टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खीचा जाता रहा ! यद्यपि हमे उस समय-उस पाप–कार्य का विरोध करना चाहिए था, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके। हमारी यह कैसी कायरता थी ? दुर्योधन से हमे यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ भी नही बोलना चाहिए । इसी शिक्षा के कारण वहा उपस्थित लोगो मे ऐसी कायरता पैठ गई थी कि सब मौन साधे बैठे रहे । सब लोग अपने–अपने मन मे सोचते थे कि अनुचित कार्य हो रहा है, मगर दुर्योधन के सामने कौन बोले ? हमारे लिए यह कितनी लज्जास्पद बात थी ! एक कवि ने कहा है –

नीरक्षीरविवेके हंस ? आलस्य त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य' कुलव्रतं पालयिष्यति कः ? ॥

पक्षियो के झुण्ड मे एक राजहस भी था । किसी पुरुष ने इस झुण्ड के सामने दूध और पानी का एक प्याला रखा। दूसरे पक्षियो ने उस प्याले मे चोच मारी तो राजहस ने भी चोच मारी । लेकिन जब दूसरे पक्षी चुपचाप बैठ रहे तो राजहस भी चुप हो रहा । यह दृश्य देखकर

कवि कहता है—"हे राजहंस ! दूध और पानी को अलग-अलग करने के अवसर पर भी यदि तू चुप बैठा रहेगा तो तेरे कुलव्रत का पालन कौन करेगा ?

कवि की इस उक्ति पर विचार करके आपको समझना चाहिए कि यद्यपि धर्म सिर्फ मेरा ही नही— सब का है, फिर भी सब लोग धर्म करे या न करे, किन्तु मुझे तो धर्म का आचरण करने के लिए सदा तैयार रहना ही चाहिए। फारसी की एक कहावत के अनुसार मनुष्य इस कुदरत का बादशाह हैं । ऐसी स्थिति मे मनुष्य का कोई कार्य अनुचित क्यो होना चाहिए ?

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे राज्य मे इस प्रकार प्रजा को निर्बल बनाने वाली शिक्षा नही होनी चाहिए। प्रजा को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह राजा के विरुद्ध भी पुकार कर सके और राजा, प्रजा की पुकार सुनने के लिए तैयार रहे । इसी प्रकार सत्ता का दुरुपयोग नही वरन् सदुपयोग होना चाहिए । राज्य मे अगर इतना-सा सुधार भी न हुआ तो तुम मे और दुर्योधन मे क्या अन्तर रहेगा ?

भीष्म के इस कथन पर आप भी विचार करो। भगवान् महावीर ने जो शिक्षा दी है, वह कायरता धारण करने के लिए नही वरन् वीरता प्रकट करने के लिए है। आप इस शिक्षा का उलटा अर्थ करके कायरता मत आने दो । वस्तु का विपरीत उपयोग करके कायर मत बनो । किसी वीर पुरुष के हाथ मे तलवार होती है तो वह अपनी भी

करों की स्तुति करने में बीरता और वीरता रखो। उदासीनता का त्याग करो।

आपने युधिष्ठिर की कथा सुनी होगी। युधिष्ठिर में उदासीनता आ गई थी। अगर उनमे उदासीनता रह गई होती तो अर्थक्रिया की सिद्धि न हो सकती। भीष्म ने उस समय युधिष्ठिर से कहा—यह अवसर उदासीनता दूर करके अर्थक्रिया मिद्ध करने का है, अत घबराओ मत। तुमने अनेक लोगो को मारा है फिर भी घबराने की जरूरत नही है, क्योकि इस समय तुम्हारे ऊपर कार्यसिद्धि करने का उत्तरदायित्व आ पडा है। जो हार गया या मारा गया वह तो गया ही, परन्तु जो जीता है या जो जीवित है उसके सिर गम्भीर उत्तरदायित्व आ पडा है। जो मर गये वे तो गये ही, किन्तु उनके पीछे जो लोग वचे है उनकी रक्षा का भार विजेता के कन्धो पर आ पडता है। जो विजेता व्यक्ति मृत पुरुषो के पीछे रहे हुए लोगो की सार-सभाल नही रखता, वह पतित हो जाता है। तुम विजयी हुए हो अतः वचे हुए लोगो की सार-सभाल का भार तुम्हारे जिम्मे है। तुम्हारे ऊपर सम्पूर्ण भारतवर्ष का भार है। अतः तुम्हारे जो शत्रु मारे गये हैं उनके पत्नी-पुत्र आदि के प्रति वैरभाव न रखते हुए उन्हे सान्त्वना दो — शान्ति पहुचाओ, जिससे वह लोग दुर्योधन को भूल जाए!

हे युधिष्ठिर! राजा चाहे तो अपना भी कल्याण कर सकता है और दूसरो का भी कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार वह दोनो का अकल्याण भी कर सकता है। मगर अपना और दूसरो का कल्याण करने वाले राजा उगलियो पर गिनने योग्य ही होते हैं। अधिकाश राजा तो प्रजा को

ऐसी उल्टी ही शिक्षा देते हैं, जिससे प्रजा निर्वल वन जाती है और राजा के अनुचित कार्य के विरुद्ध बोलने की हिम्मत भी नहीं कर सकती । जो विचारशील राजा सोचता है कि अन्त मे मुझे भी मरण-शरण होना है तो क्यो न मैं अपना और दूसरो का कल्याण करूँ, वही राजा, प्रजा को अच्छी शिक्षा देगा । वह प्रजा को निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा हर्गिज न देगा ।

हे युधिष्ठिर ! दुर्योधन की कुशिक्षा का हमारे ऊपर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव था कि यह बात अब हमारी समझ मे आई है। हम उसके पापो को देखते थे, जानते थे, पर हममे इतना साहस ही नही था कि उसके विरुद्ध जीभ खोल सकते ! इसका प्रधान कारण यही था कि हमे निर्बलता उत्पन्न करने वाली शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध जवान नही खोलना चाहिए ।

आप लोग "विरुद्धरज्जाइकम्मे" पाठ का अर्थ समझते है ? अगर आप इस शब्द का यह अर्थ समझते हो कि 'राजा के विरुद्ध कुछ न करना' तो आपको धर्म का त्याग कर देने के लिए तैयार रहना पड़ेगा । कल्पना करो, राजा ने प्रत्येक को अनिवार्य रूप से शराव पीने का कानून वनाया। अव आप राजा के वनाये इस कानून को मानेगे ? अगर कहो कि राजा की ऐसी आज्ञा नही माननी चाहिए, तो जो काम शराव पीने से भी अधिक हानिकारक है, ऐसे कामो के लिए राजा के विरुद्ध कुछ न वोलने की बात कहना किस प्रकार समुचित कहा जा सकता है ? राजा के विरुद्ध न वोलना या राजा के विरुद्ध काम न करना "विरुद्धरज्जाइ-

कम्मे" का अर्थ नही है । इस पाठ का अर्थ यह है कि राज्य अर्थात् सुव्यवस्था के विरुद्ध काम नही करना चाहिए। राजा के विरुद्ध काम नही करना चाहिए यह भ्रमपूर्ण अर्थ समझ बैठने के कारण ही आप मे कायरता आ गई है ।

भीष्म कहते है – "हे युधिष्ठिर! जिस समय द्रौपदी का वस्त्र खीचा जा रहा था उस समय क्या हमारा यह कर्त्तव्य नही था कि हम इस कार्य के विरुद्ध आवाज उठाते?' मगर हम सब टुकुर-टुकुर देखते रहे और द्रौपदी का वस्त्र खीचा जाता रहा! यद्यपि हमे उस समय उस पाप-कार्य का विरोध करना चाहिए था, लेकिन हम प्रकट रूप से कुछ भी न बोल सके। हमारी यह कैसी कायरता थी? दुर्योधन से हमे यही शिक्षा मिली थी कि राजा के विरुद्ध कुछ भी नही बोलना चाहिए। इसी शिक्षा के कारण वहा उपस्थित लोगो मे ऐसी कायरता पैठ गई थी कि सब मौन साधे बैठे रहे। सब लोग अपने-अपने मन मे सोचते थे कि अनुचित कार्य हो रहा है, मगर दुर्योधन के सामने कौन बोले? हमारे लिए यह कितनी लज्जास्पद बात थी! एक कवि ने कहा है –

> नीरक्षीरविवेके हस ? आलस्य त्वमेव तनुषे चेत् ।
> विश्वस्मिन्नधुनाऽन्य. कुलव्रतं पालयिष्यति कः ? ॥

पक्षियो के झुण्ड मे एक राजहस भी था। किसी पुरुष ने इस झुण्ड के सामने दूध और पानी का एक प्याला रखा। दूसरे पक्षियो ने उस प्याले मे चोच मारी तो राज-हस ने भी चोच मारी। लेकिन जब दूसरे पक्षी चुपचाप बैठ रहे तो राजहस भी चुप हो रहा। यह दृश्य देखकर

कवि कहता है—"हे राजहंस ! दूध और पानी को अलग-अलग करने के अवसर पर भी यदि तू चुप बैठा रहेगा तो तेरे कुलव्रत का पालन कौन करेगा ?

कवि की इस उक्ति पर विचार करके आपको समझना चाहिए कि यद्यपि धर्म सिर्फ मेरा ही नही— सब का है, फिर भी सब लोग धर्म करे या न करे, किन्तु मुझे तो धर्म का आचरण करने के लिए सदा तैयार रहना ही चाहिए। फारसी की एक कहावत के अनुसार मनुष्य इस कुदरत का बादशाह है । ऐसी स्थिति मे मनुष्य का कोई कार्य अनुचित क्यो होना चाहिए ?

भीष्म कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे राज्य मे इस प्रकार प्रजा को निर्बल बनाने वाली शिक्षा नही होनी चाहिए। प्रजा को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह राजा के विरुद्ध भी पुकार कर सके और राजा, प्रजा को पुकार सुनने के लिए तैयार रहे। इसी प्रकार सत्ता का दुरुपयोग नही वरन् सदुपयोग होना चाहिए। राज्य मे अगर इतना-सा सुधार भी न हुआ तो तुम मे और दुर्योधन मे क्या अन्तर रहेगा ?

भीष्म के इस कथन पर आप भी विचार करो। भगवान् महावीर ने जो शिक्षा दी है, वह कायरता धारण करने के लिए नही वरन् वीरता प्रकट करने के लिए है। आप इस शिक्षा का उलटा अर्थ करके कायरता मत आने दो। वस्तु का विपरीत उपयोग करके कायर मत बनो। किसी वीर पुरुष के हाथ मे तलवार होती है तो वह अपनी भी

रक्षा करता है और दूसरे की भी रक्षा करता है। इसके विरुद्ध कायर के हाथ की तलवार उसकी हानि करती है और वह तलवार का भी अपमान करता है। तुम्हे वीर-धर्म मिला है। इस वीरधर्म का अर्थ उलटा करके काय-रता मत धारण करो। सदैव इस बात का ध्यान रखो कि वीरधर्म का दुरुपयोग न होने पाये।

दसवाँ बोल

वन्दना

प्रश्न—वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बन्ध करता है, सुभग, सुस्वर आदि का बन्ध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते हैं और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

चौवीस तीर्थङ्करो की प्रार्थना करने के सम्बन्ध मे पहले विवेचन किया जा चुका है । जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है, उन तीर्थङ्कर भगवान् को वन्दना—नमस्कार भी करना ही चाहिए । अत यहां वन्दना के विषय मे कहा जायेगा । कदाचित् कोई तीर्थङ्करो

की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते है। अत. शास्त्र मे वन्दना के फल के विषय में प्रश्न किया गया है।

'वदि' धातु से वन्दना शब्द बना है। वदन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वदना कब करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करना चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौवीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है। वदना करने की भी विधि है। वन्दना किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने वहुत प्रकाश डाला है। आज तो वन्दना करने की विधि मे भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनो से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल मे विधिपूर्वक ही वन्दना की जाती थी और इसी कारण वन्दना के फल के सम्बन्ध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान् ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वदना के २५ आवश्यक वतलाये गये है। वह पच्चीस आवश्यक कहा है, इस विषय मे कहा है. -

दुयो णय अहाजायं कीयकम्मं बारसावस्सय होई।
चउ सीर तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमणं ॥

वन्दना के पच्चीस आवश्यको का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दो वार नमन कीर्तिकर्म अर्थात् वन्दना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, वारह आवर्त्तन आवश्यक, चार मस्तक-नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो वार गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना आवश्यक और एक वार गुरु के अभिग्रह मे से निकलना आवश्यक।

इन पच्चीस आवश्यको के होने पर ही वदना पूर्ण होती है।

यहा यह देखना है कि इन पच्चीस आवश्यको का अर्थ क्या है ? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढे तीन हाथ दूर रहें' यह गुरु का अभिग्रह-क्षेत्र है अगर स्थान का सकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढे तीन हाथ की और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ मे ओघा और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित गुरु को नमस्कार करते हुए "खमासणा" का यह पाठ बोलते है—

इच्छामि खमासमणो वंदिउं ।

अर्थात् – हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा करता हू ।

कहा जा सकता है कि जव वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है ? इस का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है । अभिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं । इन सव का यहाँ वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र-अभिग्रह मे प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने मे उद्दडता होना उचित नही है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र-अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृत देना

की प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते है। अत शास्त्र मे वन्दना के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है।

'वदि' धातु से वन्दना शब्द बना है। वदन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है और स्तुति करना भी होता है। वदना कब करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करना चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौवीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है। वदना करने की भी विधि है। वन्दना किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने बहुत प्रकाश डाला है। आज तो वन्दना करने की विधि मे भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनो से प्रतीत होता है कि प्राचीन-काल मे विधिपूर्वक ही वन्दना की जाती थी और इसी कारण वन्दना के फल के सम्बन्ध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है। भगवान् ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है। वदना के २५ आवश्यक बतलाये गये हैं। वह पच्चीस आवश्यक कहा है, इस विषय मे कहा है —

दुयो णय ग्रहाजायं कीयकम्मं बारसावस्सय होई।
चउ सीर तिगुत्तं च, दुप्पवेसं एग निक्खमणं ॥

वन्दना के पच्चीस आवश्यको का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दो वार नमन कीर्तिकर्म अर्थात् वन्दना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक, वारह आवर्त्तन आवश्यक, चार मस्तक–नमन के आवश्यक, तीन गुप्ति धारण करना आवश्यक, दो बार गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना आवश्यक और एक वार गुरु के अभिग्रह मे से निकलना आवश्यक।

इन पच्चीस आवश्यको के होने पर ही वदना पूर्ण होती है।

यहा यह देखना है कि इन पच्चीस आवश्यकों का अर्थ क्या है ? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढे तीन हाथ दूर रहे' यह गुरु का अभिग्रह-क्षेत्र है अगर स्थान का सकोच न हो तो गुरु से पुरुष या शिष्य साढे तीन हाथ की और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ मे ओघा और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित गुरु को नमस्कार करते हुए "खमासणा" का यह पाठ बोलते हैं—

इच्छामि खमासमणो वंदिउं ।

अर्थात् – हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा करता हू ।

कहा जा सकता है कि जब वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है ? इस का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहने वाले व्यक्ति को गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है । अभिग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार भेद हैं । इन सब का यहाँ वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र-अभिग्रह मे प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने मे उद्दडता होना उचित नही है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र-अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृत देना

क्षमा करे।

'अहोकाय कायसफासिय' इन शब्दो का ह्रस्व-दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोडकर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए —

बहुसुभेणं भे ! दिवसो वइकन्तो ? जत्ता भे ! जवणिज्जं च भे !

इस पाठ में देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या सवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है— हे गुरो ! दिवस, रात्रि पक्खी, चौमासा या सवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ ? इस प्रकार गुरु से कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्ज च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनो के समय उच्चारण किये हुए अक्षरो मे से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि –'गुरु महाराज ! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी आपकी सयम यात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न ? 'जवणिज्ज' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियो का और मन का दमन तो बराबर करते है न ? 'ज्ज च भे' का आशय यह कि 'हे गुरु ! आपकी सयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हू।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है ? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए ? इन प्रश्नो का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि

की प्रदक्षिणा किस लिए करते है ? वर-कन्या जब तक अग्नि की प्रदक्षिणा नही करते तब तक वे कुंवारे समझे जाते है। अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला प्राणो का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भग नही करती। स्त्रियाँ अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती है तो क्या पुरुषो को मर्यादा का पालन नही करना चाहिए ?

जैसे पति-पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक-दूसरे के धर्म को स्वीकार करते है उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरतापूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वह शिष्य यदि गुरु के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वंदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक है। इस प्रकार यहा तक पन्द्रह आवश्यक हुए। चार बार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए, तीन गुप्तियों के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलकर पच्चीस आवश्यक होते हैं।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वदना करनी चाहिए। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म-जन्मान्तर मे भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसकी सार्थकता गुरु को वन्दन करने से हो

चाहते होंगे तो वे 'छदेण' अर्थात् 'जैसी तुम्हारी इच्छा' कहेंगे। अगर वे अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति नही देना चाहते होंगे तो 'तिविहेण' कहने का तात्पर्य यह है कि वहीं से मन, वचन और काय से नमस्कार कर लो।

अगर आचार्य 'छदेण' कह कर अभिग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृत दे तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण के समय के समान नम्रता धारण करके, हाथ मे ओघा रखकर और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित अभिग्रह मे 'निस्सही निस्सही' (अर्थात् मैं मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हू) कहते हुए गुरु के अभिग्रह मे प्रवेश करना चाहिए और फिर गुरु के चरणो मे निकट पहुच कर बारह प्रकार का आवर्त्तन करना चाहिए। आवर्त्तन करते समय 'अहोकाय कायसफासिय' ऐसा बोलते जाना चाहिए। 'अहोकाय काय' इसमे छह अक्षर हैं। इन छह अक्षरो मे से दो-दो अक्षरो का एक-एक आवर्त्तन होता है। इस प्रकार 'अहोकाय काय' इन छह अक्षरों के तीन आवर्त्तन हुए। 'अहोकाय काय' ऐसा बोलते हुए आवर्त्तन करना चाहिए और 'सफासिय' शब्द का उच्चारण करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरण स्पर्श करना चाहिए।

'अहोकाय कायसफासिय' का अर्थ है—'हे गुरु महाराज! आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मैं अपनी ऊँची काया अर्थात् मस्तक से स्पर्श करता हू।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात् इस प्रकार कहना चाहिए—

'खमणिज्जो भे! किलामो अप्पकिलंताण बहु सुभेणं भे दिवसो वइक्कतो।'

अर्थात्–हे पूज्य ! अपनी ऊँची काया द्वारा आपकी नीची काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो, मेरा वह अपराध क्षमा कीजिए ।

यह कैसी सूचना दी गई है ? इस क्षमायाचना से इस रहस्य का ज्ञान होता है कि जब गुरु के चरणस्पर्श करने मे भी गुरु को कष्ट न पहुँचने जैसी सूक्ष्म बात का ध्यान रखा जाता है तो फिर दूसरे प्रकार का कष्ट न होने के विषय में, कितना ध्यान रखना चाहिए ! जिस घर मे एक कौडी भी वृथा खर्च नही की जाती, उस घर मे रुपया–पैसा वृथा खर्च कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार जहा चरणस्पर्श करने मे भी कष्ट न पहुँचाने का ध्यान रखा जाता है और इतनी सूक्ष्म बात के लिए भी क्षमायाचना की जाती है, वहा अन्य बातों पर क्यो नही ध्यान दिया जाता होगा ? मगर इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनके चरणो का स्पर्श ही न किया जाये ! एक कौडी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पडने पर भी खर्च न करना कृपणता है। इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है मगर उन्हे कष्ट होने के विचार से चरणो का स्पर्श ही न करना अनुचित है। गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणो का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने मे किसी अंश में, गुरु को कष्ट पहुच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि—हे गुरु ! आपके चरणो का स्पर्श करने में आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए । आप क्षमासागर हैं, अत मेरा अपराध भी

क्षमा करे ।

'अहोकाय कायसफासिय' इन शब्दो का ह्रस्व-दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोडकर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए —

बहुसुभेणं भे ! दिवसो वइकन्तो ? जत्ता भे ! जवणिज्जं च भे !

इस पाठ मे देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या सवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए । इस पाठ का अर्थ यह है— हे गुरो ! दिवस, रात्रि पक्खी, चौमासा या सवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ ? इस प्रकार गुरु से कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए । फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्ज च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए ।

इन तीन आवर्त्तनो के समय उच्चारण किये हुए अक्षरो मे से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि –'गुरु महाराज ! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी आपकी सयम यात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न ? 'जवणिज्ज' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियो का और मन का दमन तो बरावर करते हैं न ? 'ज्ज च भे' का आशय यह कि 'हे गुरु ! आपकी सयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हू ।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है ? किस हेतु मे आवर्त्तन करना चाहिए ? इन प्रश्नो का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि

की प्रदक्षिणा किस लिए करते है ? वर-कन्या जव तक अग्नि की प्रदक्षिणा नही करते तब तक वे कुंवारे समझे जाते हैं। अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला प्राणो का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भग नही करती। स्त्रियाँ अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती हैं तो क्या पुरुषो को मर्यादा का पालन नही करना चाहिए ?

जैसे पति-पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक-दूसरे के धर्म को स्वीकार करते है उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरतापूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है। गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वह शिष्य यदि गुरु के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वंदन सच्चा समझो।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अभिग्रह में प्रवेश करते समय दो बार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए। फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ। तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक है। इस प्रकार यहा तक पन्द्रह आवश्यक हुए। चार बार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए, तीन गुप्तियो के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का। इस तरह सब मिलकर पच्चीस आवश्यक होते हैं।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वदना करनी चाहिए। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म-जन्मान्तर मे भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसकी सार्थकता गुरु को वन्दन करने से हो

हो सकती है। अतएव मन को खराब कामो मे नही पिरोना चाहिए। मान लीजिए, किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा? अगर नही तो जो मन अनेक जन्म–जन्मान्तरो के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामो में पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है? अनेक विध कठिनाइया झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वदना की जाये तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है। जिस वन्दना का फल यहाँ तक बतलाया गया है कि बँधा हुआ नीच गोत्र कर्म भी वन्दना से क्षीण हो जाता है और उच्च गोत्र का बँध होता है, उस वन्दना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ तो फिर किस समय होगा? मगर लोग सत्कार्य मे मन एकाग्र नही करते और यही अधोगति का कारण है।

मन एकाग्र करना ही मन की गुप्ति है, फिर वचन से बहु-मानतापूर्वक श्रेष्ठ अलकार बोलते हुए गुरु को वदना करना कायगुप्ति है।

यह सब पच्चीस आवश्यक हुए। इन आवश्यकों की रक्षा करके और वदना के बत्तीस दोष टालकर गुरु को वंदना की जाती है, वही सच्ची वदना है।

आज वदना की यह विधि क्वचित् ही दिखाई देती है, अतएव वदनाविधि जानने का और विधिपूर्वक वन्दना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोडी भी वन्दना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगो ने विधिपूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त की है, वे सख्या मे थोडे होने पर भी विधिपूर्वक युद्ध करके

विजयी होते हैं और अशिक्षित योद्धा बहुसख्यक होने पर भी हार जाते हैं। इसी प्रकार विधिरहित बहुत वदना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन-काल के लोग विधिपूवक ही वन्दना करते थे। आप लोग वदना को विधि सीखकर, विधिपूवक वन्दना करगे ना आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वन्दना करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वन्दना करने से जीव नीच गोत्र कम का क्षय करके उच्च-गोत्र का बन्ध करता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय मे यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र कर्म क्या है? आजकल नीचगोत्र और उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने मे भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम मे पड गये हैं। वीरमगाव मे मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र मे उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है? मैंने कहा – हाँ, शास्त्र मे दोनो का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा और नीच गोत्र नीच होगा? उत्तर मे मैंने कहा – तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र में कही ऐसा आया हो तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नही चाहिए। इसके अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वह नीचगोत्र ही बना रहता है, यह कैसे कहा जा सकता है? नीचगोत्र वाला उच्चगोत्र भी

बन सकता है।

गोत्र का अर्थ कहते हुए कहा गया है —

गां वाणी त्रायते रक्षते इति गोत्रः।

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ वाणी है और 'त्र' का अर्थ पालन करता है। इस प्रकार गोत्र का अर्थ 'वाणी का पालन करना' होता है। इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है।

कहा जाता है कि नीचगोत्र वाले को मुक्ति नही मिल सकती, लेकिन यह ध्यान मे रखना चाहिए कि नीचगोत्र कर्म का क्षय भी हो जाता है और तब वह मुक्ति का अधिकारी क्यो न होगा? नीचगोत्र मे उत्पन्न होकर के भी उच्च पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है। गोत्र दो प्रकार का है-एक जन्मजात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र। जन्मजात गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है—

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ॥

— उत्तराध्ययन, १२-१।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल मे उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हो करके भी नीच-वाणी को पालने वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत मे भी कहा है कि ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने

वाला व्यक्ति भी चाडाल बन सकता है। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नही किन्तु कर्मजात भी है।

वदना का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि वन्दना से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्चगोत्र का बध होता है। परन्तु इस बात का प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि वन्दना पूर्ण हो सके। जब मैं आप लोगो को यह विषय सुनाता हू तब यह भी विचार करता हू कि कही मैं ऐसा न रह जाऊं कि कुडछी दूसरो की थाली मे तो परोस देती है लेकिन स्वय कुछ भी स्वाद नही लेती। मैं कोरा न रह जाऊं, अत अपनी आत्मा से यही कहता हू कि हे आत्मन्! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके। अगर मुझसे पूर्ण नियमो का पालन होता हो तो मुझे और क्या चाहिए? मगर मैं अपने सम्बन्ध मे ऐसा अनुभव करता हू कि मुझसे अभी तक सम्पूर्ण आदर्श नियमों का पालन नही होता। अतएव मैं अपने आत्मा को यही कहता हू कि हे आत्मन्! तू ऐसा प्रयत्न कर जिससे पूर्ण वन्दना कर सके।

आपको ऐसा विचार नही करना चाहिए कि हम उच्च कुल मे जन्म चुके है, इसलिए अब हमे कुछ भी करना शेष नही रहा, इससे विपरीत आपको यह विचारना चाहिए कि जितने अशो मे महापुरुषो की वाणी का पालन करते हैं उतने अशो मे तो उच्चगोत्र के है और जितने अशो मे उस वाणी का पालन नही करते उतने अशो मे उच्चगोत्री नही हैं। इस प्रकार विचार करने से ही अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता दूर करने का प्रयत्न

करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है ।

अहकार को जीतना वदना का एक प्रधान प्रयोजन है । वदना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है । नम्रभाव धारण करने वाला ही अहकार को जीत सकता है परन्तु वन्दना सासारिक पदार्थों को स्वार्थभावना से नही होनी चाहिए । सासारिक पदार्थों की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते हैं । क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नही करता ? बचपन मे मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन करते हैं । मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गाँठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है । इस प्रकार स्वार्थ सिद्धि के लिए तो वदना की हो जाती है किन्तु यहा जिस वदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नही होनी चाहिए । वह गुणो की वदना होनी चाहिए । गुण देखकर उन्हे प्राप्त करने के लिए की जाने वदना ही सच्ची वदना है । इसी प्र ार की वदना से अहकार पर विजय प्राप्त की जा सकती और परमात्मा से भेंट हो सकती है ।

आज वदना करने मे भी पक्षपात किया जाता है । अर्थात् यह कहा जाता है कि वे हमारे हैं अतएव उन्हे मैं वदना करता हू और अमुक मेरे नही है, अतः मैं उन्हे वदना नही करता । वदना करने में भी इस प्रकार का पक्षपात चलाया जाता है । छद्मस्थ पक्षपात से सर्वथा मुक्त नही हो सकता, लेकिन वह पक्षपात तेरे-मेरे का नही होना चाहिए, वरन् पक्षपात गुणो के प्रति होना चाहिए और यह देखना

चाहिए कि उनमें वदना करने योग्य गुण है या नही!

शास्त्रो का कथन है कि तुम उन्ही को वदना करो, जिनमें सयम आदि गुण हैं। जिनमे यह गुण नही हैं, उन पासत्था आदि को शास्त्र ने वदना न करने का विधान किया है। शास्त्र को पासत्था कुशील या स्वच्छन्दचारी लोगो के प्रति द्वेष नही है, किन्तु शास्त्र ने उन्हे वदना करने वालो को भी यह सूचना कर दी है कि पासत्था आदि को वदना करना उन्हे और अधिक पतित करने के समान है। अगर आप उन्हे वदना करेंगे तो वे विचार करेंगे—'लोग हमें वदना तो करते ही है, फिर यदि सयम का पालन न किया तो भी क्या हर्ज है?' इस प्रकार विचार कर वे लोग अधिक पतित हो जाते हैं। अत. ऐसे लोगो को वंदना करना उन्हें अधिक पतित करने के समान है। वदना गुणो के लिए ही की जाती है, अत जिनमे सयमादि गुण हो उन्ही को वदना करना उचित है। जिह्नोंने सयमादि गुणो को स्वीकार तो किया है, कितु जो उन्हे अपने जीवन मे उनारते नही है, उन पासन्था आदि को वदना करना अपने को और उनको पतित करने के समान है।

सवोधसत्तरी मे कहा है—

पासत्थं वदमाणस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
होई कायकिलेसो, अण्णाणं वघई कम्मं॥

अर्थात्—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणो को धारण तो करता है, परतु उनका निर्वाह नही करता, उसे पासत्था कहते हैं। ऐसे (पार्श्वस्थ) लोगो को और इसी कोटि के कुशोल और स्वच्छदी लोगो को वदना करना अनु-

चित है । कतिपय लोगो का कहना है कि हमें किसी के प्रति राग-द्वेष नही रखना चाहिए और सभी की वदना करनी चाहिए । मगर यह कथन ठीक नही है । राग-द्वेष नही होगा तो वदना किये विना ही मुक्ति मिल जायेगी । अगर कोई वदना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वदना कर रहा है ? राजपुरुष आदि को जो वदना की जाती है वह उसकी सत्ता के कारण की जाती है, लेकिन वदना करने योग्य गुणो से रहित पासत्था आदि को वदना करने का उद्देश्य क्या है ? यहा जिस वदना का प्रकरण चल रहा है, वह वन्दना सयमादि गुणों से हीन पुरुषो को करना उचित नही है । क्यो उचित नही है, यह बताने के लिए इस गाथा में कहा है कि पासत्था को वन्दना करने से कीर्त्ति भी नही मिलती । कहा जा सकता है कि कीर्ति न मिले तो न सही, निर्जरा तो होगी? मगर आगे इसी गाथा मे कहा है—पासत्था आदि को वन्दना करने से निर्जरा भी नही होती । कोई कह सकता है—निर्जरा न हो तो न सही, वन्दना करने मे हानि क्या है ? इसके उत्तर मे कहा है— पासत्था आदि को वन्दना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है । कदाचित् कहा जाये कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नही होती ? इस प्रश्न के उत्तर मे, गाथा में बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नही होता वरन् अनाज्ञाकर्म का बध भी होता है अर्थात् भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप लगता है ।

मान लीजिए, चम्पा के फूलो की माला अशुद्धि में

पड गई है। यद्यपि चम्पा के फूलो की माला आपकी दृष्टि में अच्छी वस्तु है, फिर भी अशुचि मे पडी हुई वह माला पहनने योग्य नही है। इसी प्रकार जो लोग पासत्थापन की अशुचि मे पड गये हैं, उनके प्रति बुद्धिमान् पुरुष किसी प्रकार का द्वेष धारण नही करते किन्तु साथ ही गुणीजनों के प्रति की जाने योग्य वदना भी नही करते। निशीथसूत्र मे भी कहा है—

जे भिक्खू पासत्थ वदइ, वंदतं वा साइज्जइ, एवं कुसीलं उसन्नं, अहाछंद संसत्तं।

इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वदना करने का बहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वदना करने से बहुत लाभ होते है, मगर गुणरहित को वदना करने से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। वदना के जो बत्तीस दोष बतलाये गये है, उनके वर्णन करने का अभी समय नही है। अतएव सक्षेप मे मैं इतना ही कहता हू कि पच्चीस आवश्यक सहित और बत्तीस दोषरहित वदना करने का फल नीचगोत्र का क्षय करना और उच्चगोत्र बाधना है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुष की वाणी का अनुसरण करने वाला नीचगोत्री है। किसी-किसी कुल मे अमुक प्रसगो पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच सस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल मे ऐसी पद्धति होती है कि अमुक प्रसग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ की वाणी का आचरण है। इस प्रकार जो जैसो की वाणी का पालन करता

है, उसके कुल मे सस्कार भी प्राय वैसे ही बन जाते है और उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते है । उच्चगोत्र वालो के कुल के सस्कार से आत्मा उन्नत बनता है, अवनत नही बनता । किसी कुल के सस्कार ऐसे भी होते है कि उनकी बदौलत उन्हे अच्छी बात रुचिकर नही होती और पाप-कृत्यों के प्रति घृणा नही होती । किसी कुल के सस्कार ऐसे होते है कि चाहे जो हो पर उस कुल मे जन्मने वाले पापकार्यों मे प्रवृत्त नही होते। उदाहरणार्थ – तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयो की थैली रख दे तो भी तुम बकरे की गदन पर छुरी फेरने को तैयार नही होओगे । यह उच्चगोत्र और कुल के सत्सस्कारो का ही प्रभाव है । कभी–कभी उच्चगोत्र वालो मे भी कोई बुरी गात घुस जाती है । जैसे तुम लोगो को बकरा मारने मे जैसी घृणा है, वैसी घृणा क्या असत्य भाषण और व्यभिचार के प्रति भी है ?

प्राचीनकाल मे व्यभिचार, हिंसा से भी अधिक बुरा माना जाता था । मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नही देखी जाती। पुराने जमाने मे व्यभिचार, हिंसा से भी बुरा समझा जाता था, इसका प्रमाण यह है कि महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती हिंसा का क्रूर कर्म करती थी, फिर भी महाशतक ने उसे घर से बाहर नही निकाल दिया था । महाशतक ने रेवती को घर से बाहर क्यो नही निकाल दिया ? इसका कारण मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाशतक यह विचार करता था कि रेवती का खानपान खराब है लेकिन मुझ पर इसका अनुराग है और वह व्यभि-चार से बची हुई है । अगर मै उसे बाहर कर दूगा तो वह

श्रौर अधिक बिगड जायेगी और सम्भव है व्यभिचार आदि के पापो मे भी पड जाये ! इस प्रकार विचार कर उसने स्वय तो मासभक्षण का आदर नही किया, किन्तु रेवती को व्यभिचार आदि पापो से बचाने के लिए घर से बाहर भी नही निकाला । इस तरह पहले के जमाने मे व्यभिचार हिंसा से भी बड़ा पाप माना जाता था ।

आशय यह है कि वन्दना करने से नीचगोत्र का क्षय होता है और उच्चगोत्र का बध होता है । कितनेक लोगों का कहना है कि किये हुए कर्म एकान्तत भोगने ही पडते है, लेकिन कृत कर्म अगर बदल न सकते या क्षीण न हो सकते होते तो भगवान् वन्दना का फल यह न बतलाते कि वदना से नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बध होता है । मगर भगवान् ने वन्दना का यही फल बतलाया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृत कर्म भी बदल सकते है और उनकी निर्जरा भी की जा सकती है । वन्दना करने से अर्थात् नम्रता धारण करने से भी कर्मो का क्षय होता है।

वन्दना का एक फल नीचगोत्र का क्षय और उच्चगोत्र का बध होना है— दूसरा फल सौभाग्य की प्राप्ति है और तीसरा फल अप्रतिहत होना है अर्थात् वन्दना करने वाला किसी से पराजित नही होता । वन्दना का चौथा फल यह है कि वन्दना करने वाले को आज्ञा के अनुसार कार्य होता है, अर्थात् उसकी आज्ञा का कोई लोप नही करता । वन्दना का पाचवा फल दाक्षिण्य गुण आना है अर्थात् वन्दना करने से होशियारी सव सर्वप्रियता प्राप्त होती है ।

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने का ऐसा फल मिलता

है । किन्तु आजकल के अधिकाश लोगो ने वन्दना को भी स्वार्थसाधन का एक उपाय वना लिया है और इसलिए चाहे जिसे वन्दना कर ली जाती है । प्राचीनकाल मे यह वात नही थी । उस समय मस्तक भले ही काट लिया जाये पर गुणहीनो के सामने मस्तक नही झुकाया जाता था । धर्म के विषय मे भी यह नियम पालन किया जाता था और व्यवहार मे भी इस नियम का पालन होता था । कहा जाता है कि मुगल–सम्राट अकवर ने महाराणा प्रताप को कहला भेजा था कि अगर राणा मेरे आगे नतमस्तक हो तो मैं उन्हे मेवाड के राज्य के अतिरिक्त और भी राज्य दूगा । परन्तु महाराणा ने प्रत्युत्तर दिया —'मैं उन्हे धार्मिक समझ कर नमस्कार करूँ, यह वात जुदी है, किन्तु लोभ के वश होकर तो कदापि नमस्कार नही करने का । ऐसा करने से मेरी माता को ही कलक लगता है ।' राणा प्रताप मे ऐसी दृढता थी । इसी दृढता के कारण उन्हे जगल मे इधर-उधर भटकना पडा और सकटो मे रहना पडा । राणा ने अपना कुलधर्म निभाने के लिए सभी कष्ट सहना स्वीकार किया किन्तु वादशाह के आगे नतमस्तक होना स्वीकार नही किया ।

धर्ममार्ग मे भी इसी प्रकार की दृढता धारण की जाये और सयम आदि गुणो के धारको को विधिपूर्वक वदना की जाये तो भगवान् द्वारा प्ररूपित वदना का फल अवश्य प्राप्त होता है । मगर दृढता धारण किये विना फल की प्राप्ति नही होती । कामदेव और अरणक को पिशाच ने कैसे-कैसे कष्ट दिये थे, फिर भी उन्होने पिशाच के सामने सिर नही झुकाया । यह धर्मदृढता का ही परिणाम है । धर्म मे दृढता रखने वाले के चरणो मे देवता आकर नमन करते हैं ।

पहले देव ने कामदेव को कष्ट दिये थे किन्तु अन्त मे देव को ही दृढधर्मी कामदेव के आगे झुकना पडा था । आप भी ऐसी ही धर्मदृढता धारण करे। ढीले बने रहने से काम नही चलता । धर्म मे अटल श्रद्धा और दृढता धारण करने से ही कल्याण हो सकता है ।

मन, वचन और काय की शुद्धि किस प्रकार की जा सकती है, यह बताने के लिए वन्दना का प्रकरण चल रहा है । वन्दना के प्रताप से आत्मा के अनेक विकार दूर हो जाते हैं और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन और काय को शुद्धि होती है और आत्मा को शाँति प्राप्त होती है। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशाति प्राप्त करना चाहते हैं और सुभागी बनना चाहते हैं तो गुरु को विधिपूर्वक वदना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणो का ही प्रताप है । व्यवहार मे तो कहते ही हो कि यह सब गुरुचरणो का प्रताप है लेकिन हृदय मे भी यही कहो और गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप मे ही कहते हैं-आदेश रूप मे नही । फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ सयोग मिला है, वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला है । यह बात ध्यान में रखकर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शाति प्राप्त होगी और आत्मकल्याण होगा ।

ग्यारहवाँ बोल

प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिए मगर कभी-कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते है और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते है। इन अशुद्ध भावो को बाहर निकालने और आत्मा मे पुन शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है —

प्रश्न—पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— पडिक्कमणेणं वय-छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवय-छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते उपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ ॥११॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतो के अतिचार (दोष) रुकते है और अतिचारो को रोकने वाला जीव आस्रव को रोकता हुआ तथा निर्मल चारित्र का पालन

करता हुआ आठ प्रवचनमाता (पाच समिति और तीन गुप्ति) रूप संयम मे उपयुक्त, अप्रमत्त और सुप्रणिहित होकर विचरता है अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

व्याख्यान

प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने सक्षेप में कहा है। प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। किस उद्देश्य से प्रतिक्रमण करना चाहिए और प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय मे अभी ऊहापोह न करते हुए सिर्फ इतना कहता हूं कि भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करो के साधुओ को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। बीच के बाईस तीर्थङ्करो के साधु ऋजु-सरल होते हैं। अतएव जब उन्हे दोष लगता है तब वे प्रतिक्रमण करते है और जब दोष नही लगता तो प्रतिक्रमण नही करते। मगर प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करो के साधुओ को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

अब विचार करना चाहिए कि प्रनिक्रमण का अर्थ क्या है ? दूसरे लोग जिस प्रकार सध्या–वदन आदि करते है, वही स्थान जैनदर्शन मे प्रतिक्रमण का है। परन्तु सध्या-वदन और प्रतिक्रमण मे भेद है। प्रतिक्रमण का स्वरूप और उसका उद्देश्य वतलाते हुए कहा है–

> स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतं,
> तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ॥
> क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशंगतः।
> तत्रापि च स एवार्थ प्रतिकूलं गमात्स्मृतः ॥

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है । जो आत्मा स्व-स्थान का त्याग करके, प्रमाद के वश होकर पर-स्थान मे चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान मे लाना प्रतिक्रमण है । जैसे कोई बालक अपना घर छोडकर दूसरे के घर चला जाये तो उसे वापस अपने घर लाया जाता है । इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्थान से, दूसरे स्थान पर चला गया हो तो उसी को प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है ।

घर मे से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लौटा लाने का प्रयत्न सारा ससार करता है । आप लोग तिजोरी मे से रुपया निकाल देते है किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता है कि निकाला हुआ रुपया व्याज सहित लौटकर आये । रुपया लौटकर आयेगा, इस आशा से आप उसे छोड नही देते । जिस रुपया की आशा छोड दी जाती है, वह जूआ मे लगाया हुआ समझा जाता है । जिसमे लगाया रुपया लौटकर नही आता वह जूआ है, व्यापार नही । व्यापार तो वही माना जाता है जिसमे लगाया रुपया व्याज के साथ वापस लौटता है । इस प्रकार सभी लोग यह चाहते है कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहाँ से गई है, वह वापस लौट आये । सारा ससार इसी प्रयत्न मे सलग्न है ।

स्वस्थान से चला गया आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्वस्थान पर लाया जाता है । प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्वस्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते हैं । आत्मा के भाव क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक है । इन भावो से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव

मे जाना स्वस्थान से परस्थान जाना है । इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान में लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा को इन्द्रियो की प्राप्ति क्षायोपशमभाव के प्रताप से ही हुई है, किन्तु क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त इन्द्रियों को आत्मा उदयभाव मे ले आने के लिए तैयार हो जाता है। आत्मा को इस प्रकार न करने का उपदेश देने वाले लोग बहुत ही कम है, फिर भी ऐसा उपदेश देने वालो के उपदेश को आत्मा बहुत कम सुनता है और नाच-गान वगैरह देखने में तथा सुनने मे आनन्द मानता है । ऐसे समय आत्मा को विचारना चाहिए कि मुझे जो इन्द्रियो मिली हैं वे औदयिक भाव से नही अपितु क्षायोपशमिकभाव से मिली है । ऐसी स्थिति मे मैं उन्हे उदयभाव में डालकर स्वय भी उदयभाव मे क्यो पडा हू ?

हिरन को क्या उपदेश दिया जा सकता है ? उसे बचाने का प्रयत्न करने से तो वह और भागता है, लेकिन बाजे की आवाज सुनकर वह मस्त बन जाता है और पास आ जाता है । मृग नही जानता कि इस राग के पीछे बाण है । इसी प्रकार आत्मा भी विपयो मे फँसा है और वह इतना विचार नही करता कि इन विपयो के पीछे मोह का कैसा तीखा बाण है ! इस बात का विचार करके उदयभाव मे गये हुए आत्मा को उदयभाव मे से फिर स्वस्थान में अर्थात् क्षायोपशमिक आदि भावो मे लाना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा किस प्रकार विषयादि में पड रहा है और किस प्रकार क्षयोपशमभाव से प्राप्त इन्द्रियो को उदयभाव

में डाल रहा है, इस बात को समझने के लिए यह देखना चाहिए कि हीरा की कान्ति बडी है या आख की ज्योति बडी है ? न मालूम कितने क्षायोपशमभाव से आत्मा को आखे मिली है। परन्तु इस तरह महा कष्ट से प्राप्त आखे आत्मा को किस प्रकार उदयभाव में डाल देती है, इसके लिए रावण और मणिरथ के उदाहरण तुम्हारे सामने है। रावण और मणिरथ की आखो ने ही उन्हे भ्रम मे डाला था। यह तो बडे आदमियो के उदाहरण हैं। छोटो की तो कोई गिनती ही नही है। इन उदाहरणो को सामने रखकर हम विचार कर सकते हैं कि रावण और मणिरथ की भाँति ही अनेक लोग आख के कारण भ्रम में पड जाते होगे ! अतएव इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आँखो को ऐसी जगह दृष्टिपात ही न करने दिया जाये, जो उदयभाव की हो।

क्षायोपशमिकभाव मे प्राप्त नेत्र अगर औदयिकभाव मे जाते है तो इसके लिए किसे उपालम्भ दिया जा सकता है ? आखो की बदौलत पतग दीपक पर पडकर भस्म हो जाता है। पतग को इतना ज्ञान नही है, इस कारण वह दीपक से प्रेम करता है, मगर तुम तो ज्ञानवान् हो ! पतग को नेत्र मिले है, मगर वह नही जानता कि नेत्रों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। मगर तुम्हारे नेत्रो के पीछे तो महान् शक्ति विद्यमान है, जो बतला सकती है कि नेत्रो का उपयोग किस प्रकार किया जाये ? पतग चार इन्द्रियो वाला प्राणी है, मगर तुम्हारे पाचो इन्द्रियां हैं। पचेन्द्रियो मे भी तुम सज्ञी पचेन्द्रिय हो। सज्ञी पचेन्द्रियाँ मे मनुष्य-जन्म, आर्यक्षेत्र और श्रावककुल मे तुम्हे जन्म

मिला है। अतएव तुम्हे इस बात का भान होना ही चाहिए कि नेत्रो का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय ? इतना होने पर भी तुम्हारे नेत्र कहा-कहा भटक रहे हैं ! नेत्रो की चचलता के लिए सिर्फ नेत्रो को उपालम्भ देकर न रह जाओ, वरन् उस चचलता को हटाने के लिए हृदयपूर्वक प्रतिक्रमण करो और जिस भाव से नेत्रो की प्राप्ति हुई है, उन्हे उसी भाव मे रहने दो। तुम प्रतिक्रमण तो करते होओगे मगर वह केवल व्यवहार साधने के लिए ही न रह जाये, इस बात की सावचेती रखो। अगर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करोगे तो उससे अवश्य ही अपूर्व लाभ होगा।

यह हुई चक्षु की बात। इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय आदि इन्द्रिया भी क्षयोपशमभाव से ही प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त तुम्हे मन भी प्राप्त है और बुद्धि भी प्राप्त है। इन सब इन्द्रियो का, मन का और बुद्धि का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। व्यवहार मे नाक के विषय में आप यह विचार अवश्य रखते होगे कि अमुक काम करने से हमारा नाक कट जायेगा, परन्तु ज्ञानीजनो का कथन है कि व्यवहार के ही समान निश्चय में भी इसी बात का विचार रखो कि नाक कटाने के समान खराब कार्य न हो। मानव-सुलभ दुर्बलता के वशीभूत होकर कदाचित् असत्यकार्य कर बैठो तो उनके लिए पश्चात्ताप करके प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए और इस प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा परस्थान मे गये हुए आत्मा को स्वस्थान पर लाना चाहिए।

सुगधित और स्वादिष्ट वस्तु तुम्हे अच्छी लगती है। मगर किसी भी वस्तु का उपयोग करने से पहले यह देख

लेना आवश्यक है कि वह वस्तु शरीर को टिकाये रखने के लिए आवश्यक है या केवल जिह्वालोलुपता का पोषण करने के लिए ही उसका उपयोग किया जा रहा है ? जो पदार्थ देखने मे और स्वाद मे प्रिय लगते हैं, उनका उपयोग तो आप करते है, मगर यदि पदार्थ के गुण-अवगुण का विचार करके उसका उपयोग किया जाये तो दवा लेने को आवश्यकता ही न रहे । लेकिन लोग पदार्थ के गुणो का विचार नही करते और कहने लगते है कि हमारे घर मे दवा है। उस पदार्थ ने हानि पहुँचाई तो दवा लेकर अच्छे हो जाएँगे। इस प्रकार दवा पर निर्भर रहकर लोग वस्तु के गुणो पर विचार नही करते । जो लोग गुणो पर विचार करते है वे पाप से भी बच सकते हैं आर रोग मे भी बच सकते है ।

किसी भी वस्तु को केवल स्वाद को दृष्टि मे ही मत अपनाओ, उसके गुणो और दोषो का विचार करना आवश्यक है । मछली को काँटे में लगा मास अच्छा लगता है, परन्तु वास्तव मे वह मास उसके खाने की वस्तु है या उसकी मृत्यु का उपाय है ? आप मछली को उपदेश देने के लिए तैयार हो सकते है मगर मछली मे उपदेश ग्रहण करने की शक्ति ही नही है । लेकिन जरा अपनी ओर देखो । आप जानते-बूझते मछली जैसा, सोचे-समझे बिना काम कर बैठते हैं और स्वाद के वश होकर ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हैं, जिनमे इहलोक और परलोक -दोनो बिगडते हैं ।

आप मे से अधिकाश लोग चाय पीते है । चाय पीने से होने वाली हानियो को जानते हुए भी आप चाय को प्रिय वस्तु मानते है और उसका त्याग नही कर सकते । इतना

ही नही, चाय द्वारा आजकल सत्कार किया जाता है और कदाचित् कोई उस सत्कार को स्वीकार न करे तो सत्कार-कर्त्ता अपना अपमान मानता है । इस प्रकार के अनेक हानिकर खान-पान अपना लिये गये है ।

चाय किसी दूसरे देश मे लाभकारक भले ही हो किन्तु भारत जैसे गर्म देश मे, चाय जैसी गर्म वस्तु पेट मे डालना, जानबूझकर स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने के समान और रोग को आमत्रित करने के समान है । इस प्रकार अनेक हानिया उत्पन्न करने वाली चाय जीभ की लोलुपता को पुष्ट करने के लिए पियी जाती है या और किसी प्रयोजन से ? चाय की ही भाँति बीडी-सिगरेट आदि हानिकारक पदार्थ भी जीभ के स्वाद के लिए ही काम मे लाये जाते है । न जाने बीडी-सिगरेट मे ऐसा क्या स्वाद है कि पीने वाले उनका पिड नही छोडते ! पेट मे घुसने वाला धुम्रा क्या स्वाद देता है ? यद्यपि बीडी-सिगरेट मे कोई सुस्वाद नही है फिर भी छोटे-छोटे बालक तक बीडी पीते हैं ! उन बालको को किसी न किसी रूप मे बडे-बूढे ही बीड़ी पीना सिखलाते हैं । बडे-बूढे जिस बीडी को पीकर फैंक देते हैं, उसी को बालक उठा लेते है और पीने लगते हैं । धीरे-धीरे वह पीना सीख जाते है ।

इस प्रकार केवल शौक के लिए हानिकारक वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, जिससे इहलोक की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है । प्राचीनकाल मे इस प्रकार के पाप नही होते थे, अतः सीधा कदमूल और रात्रिभोजन-त्याग वगैरह का उपदेश दिया जाता था । लेकिन आजकल तो बहुतेरे नवीन पाप उत्पन्न हो गये हैं । ऐसी

स्थिति मे यह विचारणीय है कि पहले किस पाप का त्याग करना चाहिए ? कल्पना करो कि एक मनुष्य बीडी पीता है और दूसरा आदमी कदमूल का शाक खाता है । यद्यपि दोनो वस्तुएँ त्याज्य हैं और दोनो का ही त्याग कराना उचित है किन्तु पहले किस वस्तु का त्याग कराना उचित कहा जा सकता है ? मेरे विचार से बीडी पीना अनर्थदण्ड का पाप है । इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव से मिली हुई रसनेन्द्रिय को धूम्रपान द्वारा औदयिक भाव मे लाया जाता है। ऐसे करने वाले लाग स्वय पापात्मा बनते है और दूसरो को भी पापात्मा बनाते हैं ।

स्पर्शेन्द्रिय का भी इसी प्रकार दुरुपयोग किया जा रहा है । क्षायोपशमिकभाव से प्राप्त स्पर्शेन्द्रिय को किस प्रकार उदयभाव मे लाया जाता है, इस पर विचार किया जाय तो पता चले ! जब कोई वस्तु पहले-पहल सामने आती है तो वह खराब लगती है, लेकिन बार-बार के उपयोग से वह अच्छी लगने लगती है । अगर किसी वस्तु को देख-कर पहले ही उसका उपयोग न किया जाये तो उससे बचाव हो सकता है, मगर उपयोग करने के बाद फिर उससे छुट-कारा पाना कठिन हो जाता है । उदाहरणार्थ— चर्बी के वस्त्र यदि पहले से ही न पहने जाए तो उनसे बचना कठिन नही है, मगर वस्त्रो का उपयोग करने के पश्चात्, आदत हो जाने पर, त्याग करने मे कठिनाई मालूम पडती है । चर्बी के इन वस्त्रो के पहनने से कैसा और कितना पाप हो रहा है, इस बात का विचार अगर प्रतिक्रमण करते समय किया जाये तो इन वस्त्रो को त्याग करने की इच्छा हुए बिना नही रह सकता ।

कहने का आशय यह है कि उदयभाव में प्राप्त इद्रियो को और मन को उदयभाव के कार्य से विलग करके आत्मा के गुणो मे स्थापित करना प्रतिक्रमण है । आप प्रत्येक वस्तु के विषय मे प्रतिक्रमणपूर्वक विचार करे कि—'मै जिन-जिन पदार्थों का इन्द्रियो द्वारा उपयोग करता हू, वह पदार्थ वास्तव मे मेरे लिए हानिकारक हैं या लाभकारक हैं ?' प्रत्येक पदार्थ का उपयोग करते समय इस प्रकार का विवेक करने की आवश्यकता है। पेट को 'लेटर-वोक्स' वनाना उचित नही है अर्थात् जैसे लेटरवोक्स का मुँह हमेशा चिट्ठी डालने के लिए खुला रहता है, उसी प्रकार तुम्हारा पेट भी भोजन के लिए सदा खुला नही रहना चाहिए। ऐसा होने से कितनी हानि होती है, इस बात का विचार कीजिए और अपनी आत्मा को औदयिकभाव के कार्यों से निवृत्त करके आत्मिक गुणो मे ही स्थापित कीजिए । इसी मे आपका कल्याण है ।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की बात कहकर ही नही रह जाते । वे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रियात्मक कार्य करने का भी उपदेश देते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोडना ही है । प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है— प्रतिक्रमण करने से व्रत मे पडे हुए छिद्र ढक जाते हैं । अर्थात् अगीकार किये हुए व्रतो मे अतिचाररूपी जो छिद्र पड़ जाते है, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते है ।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दों के सयोग से वना है, जिसका अर्थ होता है—परस्थान में प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना । स्वीकार किये व्रतों

से दोष आना आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है। उस पतित स्थान पर से आत्मा को फिर वापिस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन में स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है।

आत्मा जब व्रतो को अगीकार करता है तो सावधानी से ही अगीकार करता है, परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्बलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतो का पालन करने में किसी न किसी प्रकार की भूल हो जाना सम्भव है। भगवान् ने अपने ज्ञान से यह बात जानकर आज्ञा दी है कि मेरे शासन के साधु-साध्वियो को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योकि इस काल मे यह सम्भव नही है कि उनके व्रतो मे कोई भी दोष न लगे। अतएव नियमितरूप से प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज बहुत बार कहा करते थे कि पक्का मकान थोडे दिनो तक सभाला न जाये और उस मकान मे जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो तब छिद्र को ढक दिया जाये तो उस मकान के तत्काल पड़ जाने की सम्भावना नही रहती और न उसे और कोई हानि होने का डर रहता है, परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती है और कही जरासा छिद्र नजर आया कि तत्काल मून्द देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थङ्करो के शासन के साधुओ के व्रत पक्के मकान सरीखे होते है। अतएव जब वे अपने व्रतो मे छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते है, छिद्र नही देखते तो प्रतिक्रमण भी नही करते। परन्तु चौवीसवे तीर्थङ्कर के साधुओ के व्रत कच्चे मकान

के समान हैं। अत उन्हें अपने व्रतो की सदैव सार-सभाल रखनी चाहिए और व्रतों मे पडे हुए छिद्रो को प्रतिक्रमण द्वारा साधते रहना चाहिए।

आप अपने कपडो मे जब छेद पडा देखते हैं तो उसे साध कर बन्द कर देते हैं, तो फिर व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को बन्द करने मे कौन बुद्धिमान् पुरुष विलम्ब करेगा ? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता होगा वह अपने व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल बन्द कर देगा। नौका मे छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका मे पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष उस छेद का बना रहने देगा ? छेद बन्द न किया तो उसके द्वारा नौका मे पानी भर जायेगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूब जायेगी। इसी प्रकार अगर व्रतो मे हुए छिद्र बन्द न कर दिये जाएँ तो आस्रव रूपी पानी भरे बिना नही रहेगा और फलस्वरूप व्रतरूपी नौका डूब जायेगी। अतएव जैसे मकान मे से पानी न टपकने देने का खयाल रखा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतो की भी सभाल रखनी चाहिए। जब कभी व्रतो में छिद्र दिखाई दें तो उसे तत्काल बन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लडने के बाद और वीर योद्धा युद्ध करने के बाद, सध्या समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को बतला देता है कि आज सारे दिन मे मुझे अमुक जगह चोट लगी है और अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा है। जब मल्ल या योद्धा अपना दर्द बता देता है तो शुश्रूषा करने वाला सेवक औषध या मालिश द्वारा उस दर्द को मिटा देता है और दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए और योद्धा युद्ध

करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे बल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा और नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने और योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तैयार नही हो सकेगा। इसी प्रकार जो साधु दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण मे अपने व्रतो की सारणा-वारणा कर लेता है और लगे हुए दोषो को प्रतिक्रमण द्वारा दूर कर देता है, वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मों को जीत लेता है।

कहने का आशय यह है कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढँक जाता है और प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध-आस्रव बन जाता है। सबल का अर्थ है-मलीन-खराब। किसी वस्तु मे दाग लग जाने से खराबी आ जाती है, उसे सबल कहते हैं। दाग वाली वस्तु अच्छी नही कहलाती। व्रतो मे लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता है और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है।

प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध-आस्रव (आश्रव-रहित) होने के कारण असबल चारित्र वाला होगा और असबल चारित्र वाला होने के कारण आठ प्रवचन माता का पालन करने मे आरूढ होगा। भगवान् की कही हुई आठ प्रवचन माताए आत्मा के लिए माता के समान हैं। प्रवचन की उत्पत्ति भगवान् से ही हुई है। भगवान् के मुख से निकले हुए आठ प्रवचन (पाच समिति, तीन गुप्ति) आत्मा के लिए माता के समान हितकर है। इन आठ प्रवचनो में बारह अगो का समावेश हो जाता है। यद्यपि आठ प्रवचनो

की वात साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है तथापि वह सभी के लिए हितकारी है।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उच्चारादिपरिष्ठापनिकासमिति, यह पाच समितियाँ हैं और मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एव कायगुप्ति, यह तीन गुप्तियां हैं। इस प्रकार इन आठ प्रवचनमाता मे समस्त सद्‌गुणो का समावेश हो जाता है। यह आठ प्रवचन जैसे साधुओ के लिए हितकरो है उसो प्रकार गृहस्थो के लिए भी हितकारी हैं।

ईर्यासमिति का अर्थ है—मर्यादापूर्वक गमन करना। मर्यादापूवक गमन किस प्रकार करना चाहिए, इसका शास्त्र मे वहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि यह समिति प्रधानरूप से साधुओ के लिए कही गई है परन्तु आप लोग (श्रावक) भी अगर इसका अभ्यास करें तो बहुत लाभ हो सकता है। एक तो इधर-उधर आंखे घुमाते हुए चलना और दूसरे चार हाथ आगे की भूमि सावधानी के साथ देखते हुए चलना, इसमे वहुत अन्तर है। दृष्टि को एकाग्र करके चलना एक प्रकार की योगक्रिया का अभ्यास है। यह अभ्यास कैसा होता है, यह वात अनुभव से ही जानी जा सकती है। चलने की क्रिया जान लेने से निश्चय और व्यवहार दोनो मे वहुत लाभ है और चलने की क्रिया न जानने के कारण निश्चय और व्यवहार— दोनो मे हानि होती है। अमेरिकन विद्वानो ने तो यहाँ तक कहा है कि जैसा प्राणायाम चलते समय हो सकता है, वैसा दूसरे समय नही हो सकता। इतना होने पर भी लोग चलने की क्रिया नही जानते। शास्त्र मे साधुओ के लिए कहा है कि उन्हे

चलते समय मनोगुप्ति और वचनगुप्ति का पालन करना चाहिए तथा चलते समय स्वाध्याय वगैरह किसी भी बात की ओर ध्यान न देते हुए इसी बात का खास ध्यान रखना चाहिए कि मेरा पैर कहा पड रहा है ? और मेरे पैर से किसी जीव को आघात तो नही पहुँच रहा है ? इस बात का ध्यान रखने से प्रतिक्रमण करते समय, हुए ईर्यावही पाप का प्रक्षालन हो जाता है ।

शास्त्र कहते हैं कि चलते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी दूसरे की गति कदापि न रुके । जब कीडी की गति का भग करना भी निषिद्ध ठहराया गया है तो फिर मनुष्य की जो पचेन्द्रिय है गति भग करके उसे परतत्रता मे डालना क्या पाप न होगा ? जो आत्मा असबल चारित्रवाला होगा, वह ईर्यासमिति का बराबर पालन करेगा। असबल चारित्रवान् बनने के लिए ईर्यासमिति का पालन करना आवश्यक है ।

मुनि को ईर्यासमिति के समान भाषासमिति का भी ध्यान रखना चाहिए । कीडो- मक्खी या अन्य जानवरो के साथ बातचीत नही की जाती । बातचीत मनुष्यो के साथ ही की जाती है । अतएव बातचीत करते समय भय, हँसी, क्रोध या अन्य किसी कारण से कठोर भाषा नही बोलना चाहिए ।

साधुओ के लिए कठोर भाषा बोलने का निषेध किया गया है तो क्या इसका अर्थ यह है कि आपको कठोर भाषा बोलना चाहिए ? कठोर भाषा बोलने से निश्चय और व्यवहार मे आपको भी हानि ही होती है । इतना होने पर भी

आज भाषा का बहुत दुरुपयोग होता दिखाई देता है। कायर लोग जीभ का जैसा दुरुपयोग करते हैं, वीर पुरुष वैसा दुरुपयोग नही करते । कुत्ते भौंकते हैं, वीर सिंह कभी नही भौंकता । यह बात दूसरी है कि सिंह गर्जना करता है, मगर वह अपने आप गर्जता है, कुत्तो की भांति दूसरों को देखकर नही । जैसे कुत्ते अपनी वाणी का दुरुपयोग करते हैं उसी प्रकार कायर लोग भी अपनी वाणी का दुरुपयोग किया करते हैं। मगर इस प्रकार वाणी का दुरुपयोग करना योग्य नही है। हमारी जीभ से कैसी वाणी निकल रही है, इस बात का ध्यान आज बहुत कम लोग रखते हैं। उचित तो यह है कि बोलने से पहले प्रत्येक बात पर विवेकपूर्वक विचार कर लिया जाये कि मेरे भाषण मे असत्य, भय या क्रोध तो नही है ? 'त सच्चं खु भयव' अर्थात् सत्य ही भगवान् है, इस सिद्धात का ध्यान बोलते समय रखा जाये तो वाणी सार्थक होती है ।

शास्त्र का कथन है कि वचन को गुप्त रखना चाहिए और यदि बोलने की आवश्यकता ही हो तो क्रोध या भय आदि किसी भी कारण से कठोर अथवा असत्य भाषण नही करना चाहिए । शास्त्र के अनुसार क्रोध के अधीन होकर बोला हुआ सत्य भी असत्य हो है । क्योंकि जो क्रोध के अधीन बोलता है वह स्वतन्त्र होकर नही वरन् परतन्त्र होकर बोलता है। स्वाधीनतापूर्वक बोली हुई वाणी ही सही हो सकती है । अतएव सदैव भाषासमिति का ध्यान रखना चाहिए । जीभ के विषय में वैताल कवि ने कहा है:—

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बुलावे,
जिभ्या से जस होय जीभ से आदर पावे ।

आना (आस्रव) रुक जाता है और आत्मा 'निरुद्धास्रव' वन जाता है । निरुद्धास्रव होने से आत्मा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनो का पालन करने मे दत्तचित्त बनता है और प्रवचनों के पालन मे दत्तचित्त होने से सयम-योग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा सयम के योग से जो भिन्न जा पडा है, वह भिन्नता नही रह जाती। पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता है तव तक उसमें और समुद्र मे जुदाई जान पडती है, परन्तु जव पानी समुद्र मे मिल जाता है तो जुदाई मिट जाती है । समुद्र मे मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता है क्योकि बीच मे पात्र है । पानी जव तक पात्र मे है, तब तक वह समुद्र मे नही मिल सकता और इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता है । बीच मे पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी मे काई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह से कारण सयमयोग से भिन्न हो रहा है । यो तो आत्मा स्वरूपत सयमयोग से भिन्न नही है, किन्तु भिन्नता आ गई है और उस भिन्नता का कारण मोह है । आत्मा किस प्रकार सयमयोग से भिन्न जा पड़ा है, इसके विषय मे श्रीसूयगडागसूत्र मे कहा है –

जेसिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वासं वसे नरे ,
मम्माइं लुप्पई बाले, अन्नमन्नेणं जीविणो ॥

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल मे उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है । उदाहरणार्थ नीचे माने जाते लोग भी अपनी जाति मे रचे-पचे रहते है तव स्पष्ट जान पडने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल

से उत्पन्न होता है, वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस प्रकार मान बैठने का कारण मोह है। आत्मा में जो ममत्व और अज्ञान है, उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त-मांस हू? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा सयमयोग से जुदा पड गया है। जब आत्मा आठ प्रवचनो का पालन करता हुआ भावप्रतिक्रमण करता है तब उसकी सयमयोग से भिन्नता नही रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा को सयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार मे कैसे समझे? जैन-सिद्धान्त मे ऐसी-ऐसी विशेषताएँ भरी पड़ी है कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड बैठते हैं कि व्यवहार की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी है जो व्यवहार मे ही रह जाते है और निश्चय का विचार तक नही करते। परन्तु जैन-सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार—दोनो को एक साथ रखता है। इसीलिए यहा यह देखना है कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की सयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार मे किस प्रकार समझ सकते है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र का कथन है कि जब भावप्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रिया सुप्रणिहित होगी अर्थात् इन्द्रियो मे भीतर-बाहर ऐसी शान्ति आ जायेगी कि देखने वाले के हृदय मे भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह

जीभ करे फजहीत जीभ जूता दिलवावे,
जीभ नरक ले जाय जीभ बैंकुंठ पठावे ॥
अदल तराजू जीभ है, गुण अवगुण दोउ तोलिये ।
वैताल कहे विक्रम ! सुनो, जीभ सँभालकर बोलिये ॥

इस प्रकार जीभ से भलाई भी होती है और बुराई भी होती है । अतएव बोलने मे विवेक रखना चाहिए । अगर विवेक न रह सकता हो तो उस दशा मे मौन रहना ही श्रेयस्कर है । कहा भी है—'मौन मूर्खस्य भूषणम्' अर्थात् मूर्ख पुरुप के लिए मौन ही भूषण है ।

कतिपय लोग वाणी का दुरुपयोग ऐसा करते हैं कि वह उनकी भी अप्रतिष्ठा का कारण बनती है और दूसरो को भी उससे बुरा लगता है । अतएव बोलने मे बहुत ही विवेक रखना चाहिए। वाणी का बडा महत्व है । उपनिषद् मे कहा है—भोजन का सार भाग वाणी को ही मिलता है। इस प्रकार वाणी मे शरीर की प्रधान शक्ति रहती है। वाणी की जितनी रक्षा की जाये उतना ही लाभ है । थोडी देर बोलने मे तुम्हे कितना श्रम मालूम होता है ! इसका कारण यही है कि बोलने से शरीर की प्रधान शक्ति का व्यय होता है । वैज्ञानिको के कथनानुसार जीभ मे तोप से भी अधिक शक्ति है। इसलिए बोलने मे विवेक की बडी आवश्यकता है।

इसी प्रकार एषणासमिति और आदान-निक्षेपणसमिति मे भी ध्यान रखना आवश्यक है और इसी प्रकार पाचवी समिति मे भी विवेक रखना चाहिए । कोई भी चीज ऐसी जगह नही रखना चाहिए और न फेंकना चाहिए, जिससे देखने वाले को घृणा हो या गन्दगी का आभास हो । यहा

(जामनगर–काठियावाड) देखा जाता है कि वर्षा का जो पानी गड्ढो मे भर जाता है और उसमे कीडे पड जाते हैं, उन कीडो को स्त्रियाँ एकत्र करके सुरक्षित जगह मे रख देती है। स्त्रियो की यह दया प्रशस्त है। किन्तु जो स्त्रिया ऐसे जीवो पर भी इतनी दया रखती हैं उन्हे अपने घर मे किस प्रकार वर्त्तना चाहिए और कितनी अधिक स्वच्छता रखनी चाहिए ? अगर वे अपने घर मे गन्दगी रखती हैं तो दया का उपहास कराती है। उनका व्यवहार देखकर लोग यही कहेगे कि जैनो की यह कैसी दया है जो घर मे तो गन्दगी रखते हैं और बाहर इस प्रकार जीव बचाते हैं ! यहाँ लोगों के घरो मे इतनी गन्दगी रहती है कि न पूछो बात ! शास्त्र मे गन्दगी रखने का विधान कही नही है, प्रत्युत शास्त्र तो शौच-स्वच्छता-पवित्रता को ही प्रधानता देता है। केवल नहाना-धोना या पानी बहाना ही शौच नही है, किन्तु 'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्ग' अर्थात् शरीर की अशुचि का विचार करने से अपने अंग पर जुगुप्सा और दूसरे के अंग पर असंगभाव उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा की शुद्धि ही सच्ची शुचि है।

कहने का सारांश यह है कि शौच का सदैव ध्यान रखना चाहिए। शौच का ध्यान रखने से पाचवी समिति का बराबर पालन हो सकता है। इसी प्रकार तीन गुप्तियो का भी भली-भाति पालन करना चाहिए। असबल चारित्रवान् पुरुष भगवान् द्वारा प्ररूपित आठ प्रवचनो का पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि प्रतिक्रमण करने से व्रतो के छिद्र बन्द हो जाते हैं और छिद्र बन्द होने से कर्मो का

आना (आस्रव) रुक जाता है और आत्मा 'निरुद्धास्रव' बन जाता है। निरुद्धास्रव होने से आत्मा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनो का पालन करने मे दत्तचित्त बनता है और प्रवचनों के पालन मे दत्तचित्त होने से सयम-योग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती है। अर्थात् आत्मा सयम के योग से जो भिन्न जा पड़ा है, वह भिन्नता नही रह जाती। पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता है तब तक उसमे और समुद्र मे जुदाई जान पडती है, परन्तु जब पानी समुद्र में मिल जाता है तो जुदाई मिट जाती है। समुद्र में मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता है क्योंकि बीच में पात्र है। पानी जब तक पात्र में है, तब तक वह समुद्र में नही मिल सकता और इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता है। बीच में पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी मे कोई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह के कारण सयमयोग से भिन्न हो रहा है। यों तो आत्मा स्वरूपतः सयमयोग से भिन्न नही है, किन्तु भिन्नता आ गई है और उस भिन्नता का कारण मोह है। आत्मा किस प्रकार सयमयोग से भिन्न जा पडा है, इसके विषय में श्रीसूयगडागसूत्र मे कहा है -

> **जेसिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वासं वसे नरे,**
> **मम्माइं लुप्पई बाले, अन्नमन्नेणं जीविणो ॥**

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल में उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है। उदाहरणार्थ नीचे माने जाते लोग भी अपनी जाति मे रचे-पचे रहते है तब स्पष्ट जान पड़ने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल

से उत्पन्न होता है, वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस प्रकार मान बैठने का कारण मोह है। आत्मा में जो ममत्व और अज्ञान है, उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त-मांस हूं? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा सयमयोग से जुदा पड़ गया है। जब आत्मा आठ प्रवचनो का पालन करता हुआ भावप्रतिक्रमण करता है तब उसकी सयमयोग से भिन्नता नही रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा को सयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार मे कैसे समझे? जैन-सिद्धान्त मे ऐसी-ऐसी विशेषताएँ भरी पड़ी हैं कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड बैठते हैं कि व्यवहार की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो व्यवहार मे ही रह जाते हैं और निश्चय का विचार तक नही करते। परन्तु जैन-सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार—दोनो को एक साथ रखता है। इसी-लिए यहा यह देखना है कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की सयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार मे किस प्रकार समझ सकते है? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र का कथन है कि जब भावप्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रिया सुप्रणिहित होगी अर्थात् इन्द्रियो मे भीतर-बाहर ऐसी शान्ति आ जायेगी कि देखने वाले के हृदय मे भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह

आना (आस्रव) रुक जाता है और आत्मा 'निरुद्धास्रव' बन जाता है । निरुद्धास्रव होने से आत्मा पाच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनो का पालन करने मे दत्तचित्त बनता है और प्रवचनो के पालन मे दत्तचित्त होने से सयम-योग के साथ आत्मा की अभिन्नता उत्पन्न होती है । अर्थात् आत्मा सयम के योग से जो भिन्न जा पडा है, वह भिन्नता नही रह जाती । पानी जब तक समुद्र से जुदा रहता है तब तक उसमे और समुद्र मे जुदाई जान पडती है, परन्तु जब पानी समुद्र मे मिल जाता है तो जुदाई मिट जाती है । समुद्र में मिलने से पहले पानी जुदा मालूम होता है क्योकि बीच में पात्र है । पानी जब तक पात्र मे है, तब तक वह समुद्र मे नही मिल सकता और इसी कारण पात्र का पानी समुद्र से भिन्न मालूम होता है । बीच मे पात्र न हो तो समुद्र के पानी और पात्र के पानी में काई अन्तर न रहे। इसी प्रकार आत्मा मोह से कारण सयमयोग से भिन्न हो रहा है । यो तो आत्मा स्वरूपत. सयमयोग से भिन्न नही है, किन्तु भिन्नता आ गई है और उस भिन्नता का कारण मोह है । आत्मा किस प्रकार सयमयोग से भिन्न जा पडा है, इसके विषय मे श्रीसूयगडागसूत्र मे कहा है –

जेसिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वासं वसे नरे ,
मम्माइं लुप्पई बाले, अन्नमन्नेणं जीविणो ।।

इस गाथा का आशय यह है कि आत्मा जिसके साथ रहता है और जिस कुल मे उत्पन्न होता है, अपने आपको वैसा ही मान लेता है । उदाहरणार्थ नीचे माने जाते लोग भी अपनी जाति में रचे-पचे रहते हैं तब स्पष्ट जान पडने लगता है कि आत्मा जिसके साथ रहता है अथवा जिस कुल

से उत्पन्न होता है, वैसा ही अपने को मानने लगता है। इस प्रकार मान बैठने का कारण मोह है। आत्मा मे जो ममत्व और अज्ञान है, उसी के कारण ऐसा होता है। परन्तु आत्मा को इस बात का विचार करना चाहिए कि मैं क्या रक्त-मांस हू ? इस प्रश्न पर विचार न करने के कारण ही आत्मा सयमयोग से जुदा पड गया है। जब आत्मा आठ प्रवचनो का पालन करता हुआ भावप्रतिक्रमण करता है तब उसकी सयमयोग से भिन्नता नही रहती और एकता स्थापित हो जाती है।

यह तो निश्चय की बात हुई कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा को सयमयोग से जो जुदाई है, वह मिट जाती है। लेकिन निश्चय की यह बात हम व्यवहार मे कैसे समझे ? जैन-सिद्धान्त मे ऐसी-ऐसी विशेषताएँ भरी पड़ी हैं कि उनका वर्णन करना भी अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग तो केवल निश्चयनय को ही इस प्रकार पकड बैठते हैं कि व्यवहार की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी हैं जो व्यवहार मे ही रह जाते है और निश्चय का विचार तक नही करते। परन्तु जैन-सिद्धान्त निश्चय और व्यवहार—दोनो को एक साथ रखता है। इसीलिए यहा यह देखना है कि भावप्रतिक्रमण से आत्मा की सयमयोग के साथ अभिन्नता होती है, इस निश्चय की बात को व्यवहार मे किस प्रकार समझ सकते है ? इस प्रश्न के उतर मे शास्त्र का कथन है कि जब भावप्रतिक्रमण होगा तब इन्द्रिया सुप्रणिहित होगी अर्थात् इन्द्रियो मे भीतर-बाहर ऐसी शान्ति आ जायेगी कि देखने वाले के हृदय में भी समाधि उत्पन्न होगी। इस प्रकार भावप्रतिक्रमण की यह

बाह्य परीक्षा होने से भावप्रतिक्रमण के नाम पर होने वाली ठगाई रुक जाती है । जैसे बगुला धीरे से एक पैर रखने के बाद दूसरा पैर उठाता है, किन्तु उसके हृदय में भावना कुछ और ही रहती है, उसी प्रकार बहुत से लोग दुनिया को अपना सयमयोग दिखाने के लिए बाहरी रूप कुछ और ही दिखलाते हैं और इस प्रकार अपनी ठगाई जारी रखते है। किन्तु शास्त्र व्यवहार की यह परीक्षा बतलाता है कि जिनकी आत्मा सयमयोग से अभिन्न होगी, उनकी इन्द्रियाँ सुप्रणिहित होनी चाहिए अर्थात् उनकी इन्द्रियो मे भीतर और बाहर ऐसी शान्ति होगी कि देखने वाले के दिल मे समाधि उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी ।

साधारणतया ससार मे शुक्ल पक्ष भी है और कृष्ण पक्ष भी है, अर्थात् सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले भी हैं और सयमयोग के नाम पर ठगाई करने वाले भी हैं । शास्त्र दोनो की स्पष्ट परीक्षा बतलाकर कहता है कि जिसकी आत्मा सयमयोग मे वर्तती होगी, उसकी इन्द्रियो का प्रणिधान होना ही चाहिए । इसके अतिरिक्त प्रकृति भी सयमयोग मे वर्तने वाले की साक्षी देती है । उदाहरणार्थ-किसी जगह ढाल (उतार) है या नही, यह जानने मे कदाचित् तुम असमर्थ हो सकते हो, मगर पानी तत्काल उतार का पता लगा लेता है और जिधर उतार होना है उधर ही वहने लगता है। इसी प्रकार शास्त्र मे कथित परीक्षा द्वारा सयमयोग में वर्तने वाले की पहचान कदाचित् आप न कर सके मगर प्रकृति तो बतला ही देती है कि यह सयमयोग में प्रवृत्ति करने वाला है या नही ? आपने यह तो सुना ही होगा कि प्राचीन काल मे मुनियो की गोद मे सिह भी

लोटा करते थे। सिंह कपटी लोगो की गोद मे नही लोटते। वे उसकी गोद मे लोटते हैं, जिनकी आत्मा सयमयोग में वर्तती है और जिनकी इन्द्रियां सुप्रणिहित होती हैं। यह सयमयोगी की परीक्षा है। जो सयमयोग मे प्रवृत्त होगा उसकी परीक्षा प्रकृति भी इस रूप मे प्रकट कर देती है।

जिनकी इन्द्रिया सुप्रणिहित नही हैं अर्थात् विषय-वासना की तरफ दौडती रहती हैं, फिर भी जो लोग अपने को सयमयोगी के रूप मे प्रकट करते हैं, वे ठग और पाखडी है। गीता मे भी कहा है –

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, यः आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥

जिसके हृदय में विकार भरे हैं और जिसकी इन्द्रिया विपयवासना की ओर दौडा करती है, वह ऊपर से अपने को भले ही सयमी प्रकट करे मगर वास्तव मे वह मिथ्या-चारी–पाखडी है।

इस प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्त न होते हुए भी जो अपने को सयमयोग मे प्रवृत्ति करने वाला प्रकट करता है, उसकी निन्दा सभी ने की है। इसी प्रकार सयमयोग मे प्रवृत्त होने वाले महात्माओ की प्रशसा भी सभी ने की है। वास्तव मे संयमयोग मे वर्तने वाले महात्मा धन्य हैं। ऐसे महात्माओ का सत्सग भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। महा-पुरुपो का सत्सग होना भी एक वडा सौभाग्य है।

अब हमे विचार करना है कि हमें क्या करना चाहिए? करना यही है कि जब आप देवसी, रायसी, पाक्षिक, चातुर्मासिक या सवत्सरी का प्रतिक्रमण करे तब

यह देखें कि हम अपने व्रतो से कहां-कहां गिरे हैं ? जहां-जहां आप गिरे हों, उस जगह से अपने आपको हटाकर ठिकाने पर आइए । शास्त्र का कथन है कि जो पुरुष जिस योग मे प्रवृत्त हो रहा हो वह उसी योग में अपनी आत्मा को सँभाले रहे। जिसकी इच्छा संयमयोग मे वर्तन की होगी वह अपनी आत्मा को बराबर सँभाल कर रखेगा ।

शास्त्र की यह बात ध्यान मे रखते हुए अपनी आत्मा को संयमयोग मे प्रवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और आत्मा व्रत मे से जहाँ कही पतित हुआ हो उस स्थान से उसे हटाकर यथास्थान लाना चाहिए । जो चलता है, कही न कही उसका पैर फिसल ही जाता है । एक बार पैर फिसलने से वह सावधान बन जाता है, मगर उसकी सावधानी वही होती है जहां उसका पैर फिसलता है ।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है । प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घड़ी को चाबी देना है। अगर कोई घडी ऐसी हो कि जब जब तक उसमे चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाये, तो यही कहा जायेगा कि वह घडी बिगडी है । एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घड़ी ही अच्छी घड़ी कहलाती है। इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमण-रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए । अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभयोग मे रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही शुभ-योग से गिर जाये तो बिगड़ी घडी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए ।

बारहवाँ बोल

कायोत्सर्ग

आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय मे कहा जा चुका है। प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतो के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हे बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी औषध लगाई जाती है। जिस प्रकार मैले कपडे धोये जाते हैं और उनका मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा के व्रतरूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मैल चढ गया है, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पडता है। यही कायोत्सर्ग है। जिस किसी उपाय से शरीर को ही नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नही है, वरन् शरीर सबधी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—काउसग्गेण भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—काउसग्गेण तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थधम्मझाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥१२॥

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— कायोत्सर्ग करने से भूतकाल के और वर्त्तमानकाल के अतिचारो को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध करता है और इस प्रकार शुद्ध हुआ जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान मे लीन होता हुआ, इहलोक और परलोक में सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष-लाभ करता है।

व्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर मे ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है ? टीकाकार 'कायोत्सर्ग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है। काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नही है कि शस्त्र के आघात से, विषपान से या अग्नि-पानी मे कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना। किन्तु शास्त्र मे कही हुई रीति के अनुसार काय का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग के विषय मे शास्त्र मे खूब स्पष्टीकरण किया गया है। उन सब स्पष्टीकरणो को स्पष्ट रूप से कहने का अभी समय नही है, फिर भी यहा थोड़ा-सा विवेचन करना

आवश्यक है ।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है— प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए । जीवन भर के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद हैं। एक यावज्जीवन कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा बिना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है । उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमे यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण अगर मैं मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है, अगर मैं जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है । निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग मे ऐसा कोई आगार नही रहता । निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग मे पादोपगमन संथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष मे से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती और सूख जाती है, उसी प्रकार यह सथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं । इस प्रकार का सथारा न कर सकने वाले के लिए इगितमरण सथारा बतलाया गया है । लेकिन जो लोग इगितमरण सथारा भी नही कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है। किन्तु इस प्रकार के सब निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते हैं जब ऐसा प्रतीत हो कि मरणकाल समीप आ गया है । मरणकाल सन्निकट न आया हो तो इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् सथारा नही किया जा सकता। यो तो कायोत्सर्ग अर्थात् सथारा करना अच्छा ही है किन्तु जब तक मरणसमय सन्निकट नही है या

संथारा करने का कोई कारण नही है, तब तक इस प्रकार के कायोत्सर्ग करने का विधान नही है। अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर संथारा करना ही उचित है।

सिंह वगैरह का कोई प्राणघातक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी संथारा किया जाता है, किन्तु वह संथारा इस रूप में किया जाता है कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाएँ तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊँ तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवन भर के लिए नही है।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'वृद्धा नारी प्रतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है। अर्थात् उपसर्ग से न बचे तो त्याग है, बच गये तो त्याग नही है, भला यह भी कोई त्याग है ? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही भडकता। कायोत्सर्ग करने के बाद, उपसर्ग के प्रति इस प्रकार का क्रोध नही होता कि 'मैंने इसका क्या बिगाडा था कि यह मुझे कष्ट पहुँचा रहा है' जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नही आता और उपसर्गदाता पर भी शान्तभाव बना रहता है, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता है। कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नही है।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना संभवित था। लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नही किया, बल्कि अपना मित्र समझा। उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा है कि मुझ मे क्रोध है या नही ? मैं भगवान् का सच्चा भक्त

हूं या नही ? अतएव हे प्रभो ! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हू कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आये !

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्व यह है कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नही आया। अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा ही है तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यकता है ? मर्यादित समय के लिए ही कायोत्सर्ग क्यो न किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्भव है, उपसर्ग मे ही मरण हो जाये। यह बात दृष्टि मे रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है।

कहा जा सकता है कि फिर वह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यो नही रखा जाता ? उपसर्ग से बचने के बाद वह त्याग क्यो नही माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरणकाल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नही है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि मे दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रखी जाती है कि अगर मैं उपसर्ग से बच जाऊ तो मेरे त्याग नही है। उपसर्ग से बचने के बाद शरीर की सभाल रखनी ही पडती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते हैं और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का सथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते-सोते ही मेरा मरणकाल आ जाये

तो मेरे यावज्जीवन सथारा है। सोते समय सथारा करने की ऐसी पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के सथारे मे भावना की प्रवलता होना आवश्यक है। ऐसा सथारा करने के पश्चात् मन सासारिक कामो मे नही लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि सस्कार के कारण स्वप्न तो आते ही होगे। मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए। अलवत्ता, जहाँ तक हो सके, सोते समय मन मे किसी भी प्रकार का सासारिक सस्कार नही रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है–कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्त्तमानकाल के पापो के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है। यहा प्रश्न किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि में वर्त्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि समीप का भूतकाल भी वर्त्तमानकाल ही कहा जाता है। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्त्ती पिछलाकाल है और वर्त्तमानकाल का आशय समीपवर्त्तीकाल है। जैसे – दिन के चार प्रहर होते है। आप सध्यासमय प्रतिक्रमण करते है। उस समय सारा ही दिन भूतकाल है लेकिन दिन का चौथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्नभूतकाल को ही यहा वर्त्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् ने कहा है कि

कायोत्सर्ग से प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है; लेकिन जिससे पाप का छेदन हो वही प्रायश्चित्त कहलाता है और इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि है। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि कैसे की जाती है ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारो के लिए किया गया है। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत सबन्धी अतिचारो की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती है।

कुछ लोगो का कहना है कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पडता है। मगर जब सब चीजो की विशुद्धि होती है तो पाप की ही विशुद्धि क्यो न होगी ? जब ससार की समस्त वस्तुओ की विशुद्धि हो सकती है तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण है।

ससार की समस्त वस्तुए शुद्ध की जा सकती हैं और दूसरे लोगो ने इस प्रकार की शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है, मगर हिन्दूजाति ने यह शुद्धि नही अपनाई और इसी कारण उसे हानि उठानी पडी। हिन्दूजाति ने यह समझ लिया कि एक बार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नही हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता है लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता है। अगर कोई चौकसी (सर्राफ) सोने को शुद्ध करने के बजाय फेंक दे और यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसकी शुद्धि हो ही नही सकती तो उसका दीवाला निकल जायेगा या नही ? वास्तव मे यह मानना भूल है कि किये हुए पापो की शुद्धि नही हो सकती। पापो की विशुद्धि अवश्य हो सकती है। अगर पापो की विशुद्धि असम्भव होती तो सामायिक-प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता!

पापो की विशुद्धि होती है मगर जैसा पाप हो वैसा ही प्रायश्चित्त होना चाहिए। कपडे पर जब तक किसी प्रकार की अशुद्धि लगी हो तब तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है, मगर कपडा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता है। इसी प्रकार अपने पापो को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हो जाता है।

व्रतो मे अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए बोझरूप हो जाते हैं, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस बोझ से निवृत्त हो जाता है। कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग मे कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई है। दवा लेने पर भी बीमारी न मिटे तो यही समझा जाता है कि या तो दवा मे कोई दोष है या दवा लेने वाले मे कोई त्रुटि है। इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप के भार से हल्का न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा ने सम्यक्प्रकार से कायोत्सर्ग नही किया है।

कायोत्सर्ग करने से आत्मा के ऊपर लदा हुआ भार उतर जाता है और तब आत्मा को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, जैसे बोझ उतरने पर मजदूर को आनन्द होता है। श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थानक मे आत्मा के लिए चार विश्रान्तिस्थान बतलाये गये है। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से, शान्ति मिलती है उसी प्रकार आत्मा पर लदा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखरूप विचरता है। इतना ही नही, शान्त होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान

में तल्लीन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान मे तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुखी नही होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जाये। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन-पुत्र वगैरह मे सुख समझते हैं अर्थात् जिनके ऊपर पाप का भार लदा है उन्ही को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये हैं, उन्हे दुखी माना जाता है! यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव मे वही है जिसके सिर पर पाप का भार नही रहा, जो पाप का बोझा उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा मे अनन्त शक्तियां छिपी हुई हैं। उन्हे प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते है। भगवान् कहते हैं–कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुखलाभ करता है और प्रशस्त धर्मध्यान मे लीन होकर मुक्ति के समीप पहुचता है। काय के प्रति ममताभाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नही रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन्! तुझमे और परमात्मा मे जो भेद है, वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक से इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा और परमात्मा

के वीच भेद डालने वाला वह शरीर ही है। उदाहरणार्थ-आग पर पानी रखने से पानी उबलता है और उबलने पर सन्-सन् की आवाज करता है। यह आवाज करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ मे आग बुझा देने की शक्ति है, लेकिन मेरे और आग के वीच मे यह पात्र आ गया है। मैं इस पात्र मे बन्द हूं और इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड रहा है। इसी प्रकार आत्मा तो सुखस्वरूप ही है, परन्तु इस शरीर के साथ वद्ध होने के कारण वह दुख पा रहा है। कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर सम्बन्धी ममत्वभाव त्याग दिया जाता है तब आत्मा मे किसी प्रकार का दुख नही रह पाता।

तेरहवां बोल

प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुखपूर्वक विचरता है और प्रत्याख्यान करने के योग्य बनता है। प्रत्याख्यान वही कर सकता है जो कायोत्सर्ग करता है। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय मे भगवान् से प्रश्न किया जाता है:—

मूलपाठ

प्रश्न—पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयई ?

उत्तर - पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरु भई, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ ॥१३॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— प्रत्याख्यान करने से (अर्थात् मूलगुण और उत्तरगुण धारण करने से) हिंसा आदि आस्रवद्वार बन्द हो जाते है और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्यो की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता है।

व्याख्यान

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचार करने से पहले इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है? शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करने के उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है। अन्य जनता मे मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है। कायोत्सर्ग करने से मनुष्य "जीवियासा—मरणभयविप्पमुक्क" अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है। कायोत्सर्ग से अतीतकाल के पापो की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते है। इस प्रकार कायोत्सर्ग से भूतकालीन पापो की शुद्धि होती है, परन्तु भविष्य मे होने वाले पापो को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है। अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है कि मूलगुणो और उत्तरगुणो को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— यह पाच मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं। अर्थात् साधुओ के लिए पाच महाव्रत मूलगुण है और नवकारसी आदि उत्तरगुण है। इसी प्रकार श्रावको के लिए पाच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण है। स्थूल हिंसा न करना, स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्रीगमन न करना और परिग्रह की मर्यादा करना, यह पाच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं और सात व्रत उत्त-

रगुण हैं । उत्तरगुण कहलाने वाले सात व्रत मूलगुणो के लिए वाड के समान हैं । मगर ध्यान रखना चाहिए कि बाड उसी खेत मे लगाई जाती है, जिसमे कुछ हो । जिस खेत मे कुछ भी नही होता, उस खेत के चारो ओर बाड लगाना व्यर्थ समझा जाता है । किसी श्रावक मे उत्तरगुण न हो परन्तु मूलगुण हो तो उसे शास्त्र इतना अनुचित नही मानता, जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है । मूलगुणो के प्रति तनिक भी सावधानी न रखते हुए केवल उत्तरगुणो से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोंग है । उदाहरणार्थ कोई मनुष्य व्यवहार में हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परधन का हरण करता रहता है और धर्मस्थान में जाकर सामायिक करने का दिखावा करता है, तो उसका यह दिखावा ठीक नही कहा जा सकता । इतना ही नही, ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है । इससे विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नहीं करता किन्तु स्थूल हिंसा भी नही करता–बल्कि दुखी जीवों पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रामाणिकता रखता है और इसी प्रकार अन्य मूलगुणो का पालन करता है तो वह घर में बैठा–बैठा भी साधुओ की महिमा बढाता है । इस प्रकार उत्तरगुणो के लिए मूलगुणो का होना आवश्यक है और मूलगुण होने पर उत्तरगुणो को अपनाने की इच्छा स्वत. उत्पन्न होगी । जिसमे मूलगुण होगे, वह अपने मूलगुणो को विकसित करने के लिए उत्तरगुणो को अपनाएगा ही । इस प्रकार मूलगुणो के साथ ही उत्तरगुणो की शोभा है । प्रत्याख्यान करने से मूलगुणो और उत्तरगुणो को धारण किया जा सकता है ।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है? भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है। वास्तव में प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक है। फल देखे-जाने बिना किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नही हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने से क्या फल मिलता है, यह जानना भी आवश्यक है। प्रत्याख्यान के फल के सम्बन्ध मे पूछे हुए प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि-प्रत्याख्यान करने से आस्रव-द्वारो का निरोध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, यह पाच आस्रव है। प्रत्याख्यान इन पाच आस्रवों को रोकता है। जो हिंसा का त्याग करेगा वह किसी जीव को मारेगा नही और न दुःख ही देगा। वह स्वय कष्ट सहन कर लेगा पर दूसरों को कष्ट नही पहुंचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नही बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नही चुराएगा। मैथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप मे कदापि नही पड़ेगा।

अभया रानी ने सुदर्शन सेठ को कितना भय और प्रलोभन दिया, फिर भी सुदर्शन ने व्यभिचार का सेवन नही किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यो पर मन नही करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दुःख का अनुभव नही करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इच्छा

का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्व ही यह है कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तैयार नही होगा और न उसे स्वीकार करेगा। उदाहरणार्थ अरणक श्रावक को किसी देव ने कुण्डलो की जोडिया दी थी। वे कुण्डल कितने कीमती होगे? फिर भी उसने कुण्डल अपने पास नही रखे। उसने राजाओ को भेट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुण्डल की जोडी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जो परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा, क्योकि यह अमूल्य वस्तुएँ उसका त्याग भग करने वाली है। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुए भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर ले तो ससार में किसी प्रकार की अशान्ति हो न रहे। आज ससार मे जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फैल रही है। इस व्रत के पालन न करने के कारण ही बोल्शेविज्म–साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष मे भी साम्यवाद का प्रचार बढ रहा है। धनवान् लोग पूँजी दबाकर बैठे रहे और गरीब दु ख पाये, तब गरीबो को धनिको के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। गरीबो के हृदय में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम तो मुसीबतें उठा रहे है और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे है! तुम ठाँस–ठाँस कर पेट भरो और बचे तो फैक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य

भूखो मर रहा हो और उसकी खोजखबर तक न लो ! इसी प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रंको मे भरे पडे रहे और दूसरा मनुष्य कडकडाती हुई ठड मे सिकुडकर मर रहा हो फिर भी उसे कपडा न दो ! तब इन दुःखी मनुष्यो मे तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेष-भाव से प्रेरित होकर वे तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाएँ यह स्वभाविक है। कदाचित् तुम कहोगे कि कंगाल लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते है ? मगर यह समझना भूल है । यह कगाल लोग थोड़े नही है और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह इन्ही से तुम्हारे पास आया है । अतएव तुम्हे विचारना चाहिए कि जब वस्तु भेद नही करती तो फिर मुझे भेद करने का क्या अधिकार है ? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नही करती । जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरो की भूख नही मिटा सकता ? इस प्रकार जब वस्तु भेद नही करती तो तुम क्यों भेद करते हो ? प्राचीनकाल मे तो ऐसे-ऐसे लोग हो गये हैं, जिन्होने स्वय भूखे रहकर भी दूसरो को भोजन दिया ! अगर तुम उन सरीखे नही बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो उसे दबाकर मत बैठ रहो । तृष्णा के वश होकर दूसरो के दुःख की उपेक्षा तो मत करो ! तृष्णा की पूर्ति न कोई कर सका है और न कभी हो ही सकेगी । अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको । इस विषय मे जो बात जैनशास्त्र कहता है, वही बात महाभारत मे भी कही गई है । महाभारत मे कहा है –

यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महत्सुखं ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशीं कलाम् ॥

इस श्लोक का आशय यह है कि, इस लोक मे किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाये और देव सम्बन्धी दिव्य सुख भी मिल जाये, इन दोनो सुखो को तराजू के एक पलडे मे रख दिया जाये और दूसरे पलड़े मे इच्छा निरोध का सुख रखा जाये, तो यह दोनो सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना मे सोलहवी कला भी प्राप्त नही कर सकते। तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवे भाग के बराबर भी नही हैं।

यद्यपि तृष्णाविजय का सुख ऐसा ही है, फिर भी ससार के लोग तृष्णा मे ही सुख मानते हैं, मगर तृष्णा से न किसी को सुख मिला है और न मिल ही सकता है। ज्ञानीजन कहते है कि तृष्णा से सुख कदापि नही मिल सकता। अतएव अगर सुखी बनना चाहते हो तो तृष्णा को जीतो।

तुम जिस वस्तु की कल्पना करते हो वह तृष्णा के लिए ही है और जिस चीज मे सुख मानते हो, वह भी तृष्णा का पोषण करने के लिए ही है। किसी भी चीज मे जो कोई सुख मानता है—सो वह तृष्णा ही सुख मानता है। तुम सुख नही मानते। उदाहरणार्थ—कान मे पहने हुए मोतियो को तुम न देख सकते हो और न चख या सूघ ही सकते हो, फिर भी मोती पहन कर कान को किस कारण कष्ट देते हो। केवल तृष्णा के ही वश होकर। जिस वस्तु मे कोई स्वाद नही आता और न जिससे भूख-प्यास ही मिटती है, उसे पहनना दु.खरूप है या सुखरूप? तुम धन को सभाल कर रखते हो सो किसके लिए? इसलिए कि मैं धन के द्वारा अमुक काम करूगा। इसी बात को ध्यान मे

रखकर श्री उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है -

इम च मे अत्थि इमं च नत्थि इम च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।
तमेवमेव लालप्पमाण, हरा हरतीति कहं पमाए ? ॥

अर्थात् - यह मेरा है और यह मेरा नही है, इस प्रकार की तृष्णा बनी ही रहती है । यह है और यह नही है, इस प्रश्न का क्या किसी भी दिन समाधान हो सकता है ? एक वस्तु हुई तो उसी के साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खडी हो जाती है। सुना है, एक आदमी ने नीलाम मे सस्ता मिलने के कारण एक पलग खरीदा । पलग अच्छा था । अत उसके साथ साठ हजार रुपये का नया सामान खरीदा, फिर भी अमुक चीज बाकी रह गई है, ऐसी आवश्यकता बनी ही रही । तब उस आदमी ने विचार किया जिस पलग के पीछे इतना अधिक खर्च करना पड रहा है, उसको ही क्यो न निकाल दिया जाये ?

आखिरकार पलग निकाल देने पर ही उसे सतोष हुआ । इस प्रकार एक वस्तु हुई कि उसके साथ दूसरी वस्तु की आवश्यकता खडी हो जाती है । ऐसा होने पर भी तृष्णा का त्याग करके सुखी बनने के बदले बहुतेरे लोग तृष्णा मे ही सुख मानते हैं, किन्तु वास्तव मे तृष्णा से सुख का मार्ग ही बन्द हो जाता है। कम मे कम तृष्णा होने पर तो सुख मिल ही नही सकता। जब किसी वस्तु की इच्छा नही होती तब उस वस्तु मे गति होती है और वह पास आती है । परन्तु जब तृष्णा उत्पन्न होती है तब वह वस्तु दूर भागती है ।

कहने का आशय यह है कि सुख तृष्णा मे नही,

तृष्णा जीतने में है । हिंसा, असत्य आदि पाप भी तृष्णा से ही होते हैं । तृष्णा मिटाने से यह पाप भी रुक जाते है । इन पापो का रुकना ही आस्रव का निरोध है । आस्रव का निरोध करने से, किस फल की प्राप्ति होती है, यह बतलाया जा चुका है । यहा सिर्फ इतना ही कहना है कि तृष्णा को जीतने के लिए अपनी आवश्यकताए कम कर डालनी चाहिए । आवश्यकताए जितनी कम की जाएगी, तृष्णा भी उतनी ही कम होती जायेगी । अगर तुम इतना नही कर सकते तो आवश्यक वस्तुओ के अतिरिक्त अनावश्यक वस्तुओ की ही तृष्णा रोको । इससे भी बहुत लाभ होगा । आवश्यक वस्तुओ की तृष्णा से जितनी हानि होती है, उससे कही अधिक हानि अनावश्यक वस्तुओ की तृष्णा मे होती है । पहले चौदह नियम चितारने का जो उपदेश दिया जाता था उसका उद्देश्य यही था कि अनावश्यक वस्तुओ की तृष्णा रोकी जाये और आवश्यकताए कम की जाए । ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है क्रमश. तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतएव अपनी आवश्यकताए घटाओ । ज्यो–ज्यो आवश्यकताए घटाओगे त्यो–त्यो तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जाएगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे । इससे विपरीत आवश्यकताए जितनी बढाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढेगी और तृष्णा बढ़ने से दु ख भी बढेगा । अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताए कम करो और तृष्णा को जीतो । तृष्णाविजय ही सुख का एकमात्र राजमार्ग है ।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है

कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है। भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणो पर अधिक जोर दिया है क्योकि मूलगुणो मे ही आस्रव का निरोध होता है। हिंसा का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवो का निरोध भी मूलगुणो से ही होता है इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुणरूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है और उससे जीव मुक्ति के सन्निकट पहुचता है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट होजाता है कि प्रत्याख्यान आस्रवनिरोध के साथ ही पूर्व–कर्मो को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अग माना है। इस विषय मे टीकाकार कहते हैं—

पच्चक्खाणे वि णं सेविऊणं भावेण जिणवरुद्दिट्ठं ।
पत्ताणता जीवा सासयसोक्खं लहु मोक्ख ॥

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भावपूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हस का भाग कौवा खा जाये! अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनो से किया जाये! मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवो का निरोध हो सकता है। बहुतसे लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते है। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का

साधक नही होता । वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाये । जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके हैं वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते हैं, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता है । वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट उस प्रत्याख्यान के आधार पर अनत जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके है, करते है और करेंगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे ।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अग माना गया है और इसमे स्पष्ट है कि वह आस्रवो का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापों को भी नष्ट करता है । इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले को चारित्रशील कहा है और चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करना होता है । इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्याख्यान आस्रवद्वारो का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मों को भी नष्ट करता है ।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है प्रत्याख्यान से आस्रवद्वार वन्द होता है और इच्छा का निरोध होता है । इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान करने से होता है अतः राग द्वेष भी नही होता । प्रत्याख्यान से किस प्रकार इच्छा का निरोध होता है यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है ।

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने आम खाने का प्रत्याख्यान किया । आम खाने का त्याग करने के पश्चात् जगत् में आम है या नही, इस वर्ष आम की फसल कैसी आई है, आम किस भाव विकते है, ऐसी बातो का वह कोई

विचार तक नही करता। आम खाने का त्याग करने वाला आम के भाव-ताव की चिन्ता क्यो करेगा ? आम के प्रति उसकी कोई रुचि या इच्छा ही नही होती । इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा का निरोध हो जाता है। ससार के सारे काटे बीने नही जा सकते, परन्तु पैर मे मजबूत जूता पहनने वाले के लिए तो मानो जगत् के काटे रहते ही नही ! इसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थ नष्ट नही हो सकते, लेकिन प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा, प्रत्याख्यान की हुई वस्तु की ओर जाती ही नही है। इस प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा इच्छा का निरोध होता है ।

कितनेक लोगो का कहना है कि प्रत्याख्यान मे क्या रखा है ! किन्तु प्रत्याख्यान में कुछ रखा है या नही यह बात गाधीजी से पूछो तो मालूम हो जायेगी । गाधीजी ने प्रत्याख्यान न किया होता तो वह महात्मा बन सकते या नही, यह एक प्रश्न है । प्रत्याख्यान लेने के कारण ही वह बीमारी के अवसर पर भी मास-मदिरा वगैरह के पाप से बच सके थे ।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा के निरोध से आत्मा को अत्यन्त लाभ पहुचता है । प्रत्याख्यान करने मे भी विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है । ऐसा नही चाहिए कि बकरी निकालने मे ऊट घुस जाये ! अर्थात् छोटे पापो का तो प्रत्याख्यान किया जाये और उनके बदले बडे पाप अपनाये जाये । अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेकपूर्वक प्रत्याख्यान करने से लाभ के बदले हानि अधिक होती है । वही प्रत्याख्यान प्रशस्त है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नही रहती। तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दु:ख-दायक है; इसलिए तृष्णा को जीतो। तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया हो है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो। इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है। आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा-निरोध होता है, इच्छा-निरोध से तृष्णा मिट जाती है, तृष्णा मिटने से सताप का शमन हो जाता है और सन्ताप के शमन से जीव को सुख-शान्ति प्राप्त होती है। भगवान् ने जगत् के जीवो को सुख का यह मार्ग बतलाया है।

कुछ लोग पूछते है कि प्रत्याख्यान करने से आत्मा सन्ताप से किस प्रकार बच सकता है? इस प्रश्न के उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्याख्यान एक ऐसी दिव्य औषधि है कि उससे तत्काल आत्मा का सन्ताप शात हो जाता है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उप-योगी होगा —

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने परस्त्री का त्याग किया। परस्त्री का त्याग करने से वह परस्त्री सम्बन्धी सन्ताप से बचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो परस्त्री का त्यागी नही हैं, उसे परस्त्री मिले या न मिले, फिर भी परस्त्री विषयक सन्ताप उसके हृदय को जलाता ही रहेगा। रावण को सीता न मिली पर सन्ताप तो मिला ही! काम की दस दशाओं का जो वर्णन किया गया है उससे ज्ञात हो सकता

है कि रावण को किस प्रकार का सन्ताप था ! परस्त्री का त्याग न होने से परस्त्री-विषयक ऐसा सन्ताप होता है कि जिससे कुल, परिवार, राज्य, देश वगैरह मटियामेट हो जाते है। अगर परस्त्री का त्याग हो तो ऐसा अवसर ही क्यो आवे ? इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी सन्तापो से छुटकारा मिलता है। इस सन्ताप से वचने के लिए और सुखी बनने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है। प्रत्याख्यान न करने से किस प्रकार का कष्ट होता है और परस्त्री का प्रत्याख्यान न करने से स्थिति कैसी बेढगी बन जाती है, इसके लिए नाथद्वारा के महन्त का उदाहरण सामने ही है। प्रत्याख्यान न करने से इस लोक के व्यवहार की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है। अतएव अगर सुखी बनना है और प्रत्येक प्रकार के सन्ताप से बचना है तो प्रत्याख्यान करो। प्रत्याख्यान से आत्मा पाप से बच जायेगी और सुखशान्ति का लाभ करेगा।
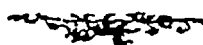
चौदहवाँ बोल

स्तव-स्तुतिमंगल

परमात्मा की प्रार्थना हृदय का अज्ञान मिटाने के लिए ही करनी चाहिए । यही बात शास्त्रकार भी कहते हैं । शास्त्र मे भी स्तुति-प्रार्थना करने के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा गया है । वह प्रश्न और उसका उत्तर इस प्रकार है —

मूलपाठ

प्रश्न—थवथुइमगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—थवथुइमंगलेण नाणदसणचरित्तबोहिलाभं जणेइ, नाणदंसणचरित्तबोहिलाभसपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहण आराहेइ ॥१४॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! स्तव और स्तुतिमगल से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— एक श्लोक से लेकर सात श्लोको में परमात्मा की जो प्रार्थना की जाती है यह स्तुति कहलाती है और

शक्रेन्द्रस्तव आदि स्तव कहलाते है। स्तव-स्तुतिरूप मंगल करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोध का लाभ होता है। बोध का लाभ प्राप्त होने से जीव कल्पवासी देव होता है और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन-सेवन करके मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

स्तव-स्तुतिमंगल करने से जीव को जो लाभ होता है, उस पर विचार करने से पहले स्तव स्तुतिमंगल के अर्थ पर विचार करना उपयोगी होगा।

'थव' का अर्थ स्तव और 'थुइ' का अर्थ स्तुति है। स्तव मे ऐसा नियम होता है कि स्तव अमुक प्रकार का ही होना चाहिए लेकिन स्तुति के लिए ऐसा कोई नियम नही है। करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार स्तुति कर सकता है। जैसे -भगवान् का स्तव करते हुए कहा गया है—

नमोत्थु ण अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसियाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो ताणं, सरणगईपइट्ठाणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, वियट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं, सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाणं ॥

यह शक्रस्तव है । शक्रेन्द्र इसी स्तव द्वारा भगवान् की प्रार्थना करता है, अतः इसे शक्रस्तव या शक्रेन्द्रस्तव भी कहते हैं । आज हम लोगो मे पामर दशा व्याप गई है, इसीलिए हमारे सामने उत्तम वस्तु का भी आदर नही होता। शक्रेन्द्र जो प्रार्थना करता था वही प्रार्थना हमे प्राप्त हुई है, अत यह प्रार्थना बोलते समय हमे कितनी प्रसन्नता होनी चाहिए ? जो शब्द इन्द्र के मुख में से निकले थे, वही शब्द मेरे मुख से निकल रहे हैं, इस विचार से प्रार्थना करते समय हमारे अन्दर कितना उत्साह और कितना आह्लाद होना चाहिए ? लेकिन आज तो स्थिति ऐसी है कि मानो महाराणा प्रताप का भाला तो पडा है मगर उसे उठाने वाला कोई नही है ! इसी प्रकार शक्रेन्द्र द्वारा की गई प्रार्थना तो है, लेकिन उसे बोलने वालो मे जो उत्साह चाहिए, वह बहुत थोडे लोगो मे ही पाया जाता है।

कहा जा सकता है कि शक्रेन्द्र द्वारा किया हुआ स्तव हमे किसलिए दिया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र का कथन है कि आध्यात्मिक दृष्टि से शक्रेन्द्र की अपेक्षा भी श्रावक का पद ऊँचा है और शक्रेन्द्र साधु-साध्वियो को नमस्कार करता है। ऐसी स्थिति मे शक्रेन्द्र का स्तव उन्हे न दिया जाये तो किसे दिया जाये ? इस उत्तर के आधार पर आशका हो सकती है कि यदि शक्रेन्द्र की अपेक्षा साधु-श्रावक का पद ऊँचा है तो फिर साधु-श्रावक का स्तवन शक्रेन्द्र को दिया जाना चाहिए था । जब शक्रेन्द्र हम से नीची श्रेणी का है तो उसके द्वारा किया हुआ स्तवन हमे किस उद्देश्य से दिया गया है ? बडो की चीज छोटो को दी जाती है ?

शक्रेन्द्रस्तव आदि स्तव कहलाते है। स्तव-स्तुतिरूप मगल करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी बोध का लाभ होता है। बोध का लाभ प्राप्त होने से जीव कल्पवासी देव होता है और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आराधन-सेवन करके मोक्ष प्राप्त करता है।

व्याख्यान

स्तव-स्तुतिमगल करने से जीव को जो लाभ होता है, उस पर विचार करने से पहले स्तव स्तुतिमगल के अर्थ पर विचार करना उपयोगी होगा।

'थव' का अर्थ स्तव और 'थुइ' का अर्थ स्तुति है। स्तव मे ऐसा नियम होता है कि स्तव अमुक प्रकार का ही होना चाहिए लेकिन स्तुति के लिए ऐसा कोई नियम नही है। करने वाला अपनी इच्छा के अनुसार स्तुति कर सकता है। जैसे -भगवान् का स्तव करते हुए कहा गया है—

नमोत्थु णं अरिहताण, भगवताण, आइगराण, तित्थयराणं, सयंसबुद्धाण, पुरिसुत्तमाण, पुरिससीहाण, पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगवहत्थोण, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोयगराण, अभयदयाण, चक्खुदयाण, मग्गदयाण, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाण, धम्मदेसियाण, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवो ताण, सरणगईपइट्ठाणं, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराण, वियट्टछउमाण, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाण, बोहियाणं, मुत्ताणं मोयगाणं, सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीण, सिवमयलमरुयमणतमक्खयमव्वाहमपुणराविित्तिसिद्धगइनामधेयं ठाणं सपत्ताणं नमो जिणाणं जियभयाण ॥

मान लीजिए, किसी मनुष्य को लाख रुपये मिले और किसी मनुष्य को बुद्धि मिली । अब इन दोनो मे से कौन बडा कहलाएगा ? आज तो यह कहावत प्रचलित है कि बुद्धिमान् लखपति के यहा विद्वान् पानी भरते हैं। अर्थात् विद्वान् भी लखपति की नौकरी करते हैं । किन्तु नौकरी करने के कारण विद्वानो की बुद्धि का अनादर नही हो सकता । अगर कोई अज्ञानी किसी वस्तु का अनादर करता है तो उससे उस वस्तु का महत्व नही घट जाता । अगर बन्दरो की टोली में एक आदमी एक मुट्ठी वेर और एक मुट्ठी हीरे फेंके तो बन्दर हीरे छोडकर वेर ही लेगे। बन्दर हीरे का महत्व नहीं, जानते. इस कारण हीरे नही लेते । मगर इसी कारण हीरा का महत्व और उसका मूल्य क्या कम हो जाता है ? इसी प्रकार जो लोग ससार की कामना मे फँसे हैं, वे स्तव द्वारा भी सासारिक कामना ही पूरी करना चाहते हैं । इसी तरह वे भावस्तव का महत्व नही जानते किन्तु इस कारण भावस्तव का महत्व कुछ कम नही हो जाता ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह है कि स्तव के साथ स्तुति शब्द का सम्बन्ध किस उद्देश्य से जोडा गया है ? जब स्तव किया जाता है तो उसके साथ स्तुति करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी लोग स्तव नही कर सकते, मगर कल्याण सभी चाहते हैं । ज्ञानीजन यह चाहते हैं कि सभी का कल्याण हो, इसीलिए स्तुति के विषय में पूछा गया है ।

स्तव तो शक्रेन्द्र द्वारा किया जाता है परन्तु स्तुति एक श्लोक से लेकर सात श्लोक तक और सस्कृत, प्राकृत

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शक्रेन्द्र एक ही है और मनुष्य बहुत है। इसी कारण उसका किया हुआ स्तव हमे दिया गया है, क्योकि उसका स्तवन व्यवस्थित है। अगर मनुष्यो का किया हुआ स्तव उसे दिया गया होता तो यह झगडा उत्पन्न हो जाता कि यह मेरा स्तवन है। इसी प्रकार मनुष्यो का बनाया हुआ स्तवन मनुष्यो को दिया जाता तो भी इसी प्रकार का झगड़ा पैदा होता ! अतएव हमें शक्रेन्द्र का स्तव दिया गया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में इहलोक सम्बन्धी भावना भी होती है और इस कारण मनुष्य के प्राय प्रत्येक कार्य मे इहलौकिक भावना चिपटी रहती है। मनुष्य के बनाये स्तव मे ऐहलौकिक भावना भी आ सकती है।

शक्रस्तव में कहा गया है कि मैं अरिहत भगवान् को नमस्कार करता हू। इसके पश्चात् भगवान् कैसे है, यह बतलाया गया है। लेकिन इस स्तव के प्रारम्भ पर से यह शका हो सकती है कि जब 'अरिहत' पद दिया है तो फिर 'भगवन्त' कहने की क्या आवश्यकता थी ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए श्री रायपसेणीसूत्र को टीका में श्री मलयगिरि आचार्य ने कहा है-अरिहन्त नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपो से होते है। यह स्तवन भाव-अरिहन्त को ही करना है, इसी कारण अरिहन्त के साथ भगवन्त विशेषण भी लगाया गया है।

तुम्हारे लिए भी यही उचित है कि नाम, स्थापना और द्रव्य को छोडकर भाव-अरिहन्त का स्तव करो। भाव-अरिहन्त का स्तव करने से क्या लाभ होता है, यह भगवान् ने बतलाया ही है।

उस श्रावक को चोर पर करुणा आई। वह चोर के पास जाकर उससे कहने लगा 'भाई! तुम्हारे ऊपर मुझे अत्यन्त दया है। मगर मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हू ?'

श्रावक का यह कथन सुनकर चोर प्रसन्न हुआ और मन ही मन कहने लगा—बहुतसे लोग इस रास्ते से निकले पर इस सरीखा दयालु कोई नही था।

ऐसे दुखी मनुष्य को देखकर तुम्हे उस पर करुणा उत्पन्न होगी या नही? ऐसी दु खद अवस्था इस आत्मा ने न जाने कितनी बार भोगी होगी! इस प्रकार आज आत्मा जो करुणा दूसरे पर प्रकट कर रहा है सो न जाने कितनी बार स्वय उस करुणा का पात्र बन चुका है। ऐसी अवस्था मे भी आज लोगो के हृदय से करुणाभाव की कमी हो रही है। करुणा की कमी का खास कारण स्वार्थभावना है। स्वार्थभावना जब हृदय मे घर कर बैठती है तब करुणा-मूर्त्ति माता मे भी भेदभाव आ जाता है और उसमे से भी करुणा निकल जाती है। माता की भी जब ऐसी स्थिति हो सकती है तो स्वार्थभावना के कारण अगर दूसरो मे भी दुखियो के प्रति करुणा न रहे तो इसमे आश्चर्य ही क्या है?

सेठ के मीठे बोल सुनकर चोर को वडी प्रसन्नता हुई। सेठ ने उस चोर से कहा 'मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकूं तो कहो।' चोर बोला—'आपको और तो क्या कहूं। हा, इस समय मैं बहुत प्यासा हू। पीने के लिए थोडा पानी दे दो।' सेठ ने कहा—बहुत अच्छा। मैं अभी पानी लाता हू। राजा की ओर से मुझे जो दण्ड मिलना होगा सो मिलेगा; लेकिन मैं पानी लाने जाऊं और इतने ही समय

बालभाषा वगैरह किसी भी भाषा में की जा सकती है। शास्त्र सभी के कल्याण के लिए है और सभी को उनकी शक्ति-अनुसार वह कल्याण का मार्ग बतलाता है। इसी हेतु से स्तव के साथ स्तुति का भी कथन किया है। अर्थात् यह कहा है कि शक्ति हो तो स्तव करो, अन्यथा स्तुति करो। जैसी शक्ति हो वही करो, लेकिन जो भी कुछ करो, भावपूर्वक ही करो। भाव से की हुई स्तुति मे या स्तव मे त्रुटि रह जाये तो भी कल्याण है। इस विषय मे एक कथा प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है—

किसी राजा ने एक चोर को शूली की सजा दी। उसने दूसरे लोगो पर अपराध के दण्ड का आतक जमाने के लिए शूली चढाने की जगह नागरिक जनता को भी बुलाया और सब लोगो को आज्ञा दे दी कि कोई भी मनुष्य चोर को सहायता न दे। चोर को शूली पर चढाने का हुक्म दिया गया और सब लोग अपने-अपने घर लौट गये। जिस जगह चोर को शूली दी जानी थी, उस जगह से निकलते हुए सभी लोग चोर की निन्दा करते जाते थे। एक श्रावक भी उसी जगह से निकला। चोर को देखकर उसने सोचा कि मुझे चोर की निन्दा नही करनी चाहिए किन्तु चोरी की निन्दा करनी चाहिए। चोरी करके दण्ड भोगने वाला पुरुष तो करुणा का पात्र है।

कितने ही लोग दु.खी को देखकर कहते हैं कि यह तो अपने कर्मों का फल भुगत रहा है। इस पर करुणा कैसी ? लेकिन वास्तव मे करुणा का पात्र तो दु.खी जीव ही है। दूसरे के दु.ख को अपना दु ख मानना ही करुणा है।

इससे विपरीत क्रम किस उद्देश्य से रखा गया है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार का यह कथन है कि यह आर्षवचन है । आषवचन मे व्याकरण के नियमो का पालन होना अनिवार्य नही है और पालन न होना अनुचित नही है । आर्षवचन पर व्याकरण के नियमो का प्रभाव नही पडता । अलबत्ता अर्थ करते समय इस क्रम का ध्यान रखना चाहिए ।

स्तव और स्तुतिमगल करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इसके सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा है—यह भाव-मगल है । इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि स्तव और स्तुति भावमगल के लिए करना चाहिए। किसी भी सासा-रिक कामना से किया जाने वाला स्तव या स्तुति भावमगल नही है । भावमगलरूप स्तव या स्तुति सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है ।

स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध में भगवान् ने कहा है -स्तव-स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जैनधर्म का सार है। अगर आप जैनधर्म के सारभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करना चाहते है तो शास्त्र कहता,है कि स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करो। शास्त्र का यह कथन दृष्टि मे रखते हुए आपसे बारम्बार यह कहा जाता है कि इस कलियुग मे परमात्मा की प्रार्थना का शरण लो। हालाकि मैं जो प्रार्थना बोलता हू वह बालभाषा मे है, इस-लिए उसका स्तुति मे समावेश होता है और इस प्रकार की स्तुति का फल भगवान् ने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि

मे कदाचित् तुम्हारे प्राण-पखेरू उड जाएं तो तुम्हे न जाने क्या गति मिलेगी । इस कारण तुम मेरा उपदेश सुनकर ध्यान मे रखो तो तुम्हारा कल्याण होगा ।

चोर ने सेठ की बात मानना स्वीकार किया । सेठ ने उसे णमोकारमन्त्र सुनाया और कहा मैं पानी लेकर आता हूं, तब तक इस मन्त्र का जाप करते रहना । चोर ने पहले कभी यह मन्त्र नही सुना था और इस समय वह घोर सकट में था । उसे णमोकारमन्त्र याद नही रहा । वह उसके स्थान पर इस प्रकार कहने लगा—

आनू तानू कछू न जानूं, सेठ वचन परमानू ॥

उसने इस प्रकार णमोकारमन्त्र का जाप किया । यह स्तव नही तो स्तुति तो हुई । चोर मर कर न जाने किस गति मे जाता लेकिन स्तुति के प्रभाव से वह देव हुआ । यह स्तुति का ही प्रताप है ।

कहने का आशय यह है कि नियमित शब्दो मे या पक्तिबद्ध जो हो वह स्तव है, और जिसके लिए कोई नियम विशेष नही है तथा जिसमे जिस किसी भी प्रकार से हृदय के भाव प्रकट किये जाए वह स्तुति है । अगर आप स्तव नही कर सकते तो स्तुति करो, मगर जो करो भावपूर्वक ही करो । भावपूर्वक की गई स्तुति भी आत्मा का कल्याण करती है ।

'थवथुइमगल' अर्थात् स्तवस्तुतिमगल शब्द के विषय मे व्याकरण की दृष्टि से एक प्रश्न उपस्थित होता है कि थुइ (स्तुति) शब्द स्त-प्रत्ययान्त होने के कारण पहले आना चाहिए और थव (स्तव) शब्द बाद मे । लेकिन शास्त्र मे

इससे विपरीत क्रम किस उद्देश्य से रखा गया है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार का यह कथन है कि यह आर्षवचन है । आषवचन मे व्याकरण के नियमो का पालन होना अनिवार्य नही है और पालन न होना अनुचित नही है । आर्षवचन पर व्याकरण के नियमो का प्रभाव नही पडता । अलबत्ता अर्थ करते समय इस क्रम का ध्यान रखना चाहिए ।

स्तव और स्तुतिमगल करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इसके सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा है—यह भाव-मगल है । इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि स्तव और स्तुति भावमगल के लिए करना चाहिए। किसी भी सासा-रिक कामना से किया जाने वाला स्तव या स्तुति भावमगल नही है । भावमगलरूप स्तव या स्तुति सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है ।

स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव को क्या लाभ हाता है ? इस सम्बन्ध मे भगवान् ने कहा है -स्तव-स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव को ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र जैनधर्म का सार है। अगर आप जैनधर्म के सारभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्राप्ति करना चाहते है तो शास्त्र कहता है कि स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करो। शास्त्र का यह कथन दृष्टि मे रखते हुए आपसे बारम्बार यह कहा जाता है कि इस कलियुग मे परमात्मा की प्रार्थना का शरण लो। हालाकि मैं जो प्रार्थना बोलता हू वह बालभाषा मे है, इस-लिए उसका स्तुति मे समावेश होता है और इस प्रकार की स्तुति का फल भगवान् ने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि

प्राप्त होना वतलाया है ।

सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाला प्रार्थी, प्रार्थ्य (जिसकी प्रार्थना की जाये) के सर्वस्व का अधिकारी वन जाता है । एकाग्रचित्त से ध्येय पर पहुचने का ध्यान करने से ध्येय तक पहुँच सकते है, इसी प्रकार सच्चे हृदय से प्रार्थना करने पर परमात्ममय वना जा सकता है ।

भगवान् कहते है कि स्तव–स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी वोधि प्राप्त कर सकता है । रत्नत्रयरूप वोधि प्राप्त करने से जीव अन्तक्रिया कर सकता है । अन्तक्रिया का सामान्य अर्थ है–अन्तिम क्रिया । अन्तिमक्रिया अर्थात् वह क्रिया जिसके वाद फिर कोई भी क्रिया न करनी पड । अथवा जिस क्रिया से भव का अन्त हो जाये और फिर कभी भव न धारण करना पड़े उसे अन्त-क्रिया कहते है ।

संसार मे पुन.–पुन जनमना और मरना भव कह-लाता है । इस प्रकार के भव का अन्त हो जाना अन्तक्रिया है । अतएव स्तव–स्तुतिरूप भावमगल का फल उसी भव मे मोक्ष जाना है । कदाचित् उसी भव मे मोक्ष प्राप्त न हो तो जीव कल्पविमान मे, अनुत्तरविमान मे या नवग्रैवेयक वगैरह मे जाता है । स्तव और स्तुतिमगल करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप वोधि का लाभ प्राप्त होने पर भी कभी-कभी हृदय के भाव ठीक नही रहते, इस कारण उसी भव मे मोक्ष नही मिलता । फिर भी ऐसा जीव विश्रान्ति लेकर मोक्ष जाता है और विश्रान्ति लेने के लिए वह श्रेष्ठ विमान मे ही जन्म लेता है ।

उदाहरणार्थ—रेलवे के प्रथमश्रेणी के यात्री को कही विश्राम लेना हो तो उसे धर्मशाला या साधारण मुसाफिर-खाने में विश्राम लेने की आवश्यकता नही होती, क्योंकि उसे प्रथम श्रणी (First Class) का विश्रान्तिगृह (Waiting Room) मिलता है। इस व्यावहारिक उदाहरण के अनुसार ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधि प्राप्त करने वाले मोक्ष के मुसाफिर को अगर विश्राम लेना पडता है तो वह कल्प-विमान आदि मे जन्म लेकर ही विश्राम करता है और फिर मोक्ष जाता है। अन्तक्रिया करने वाला प्रथम तो उसी भव मे मोक्ष जाता है, अगर उसी भव मे मोक्ष न गया तो भी वह अच्छी ही स्थिति प्राप्त करता है— अर्थात् कल्पवि-मान, ग्रैवेयक या अनुत्तरविमान मे ही विश्रान्ति के लिए रुकता है । वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य ही होता है और ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की श्रेष्ठ आराधना करके मोक्ष जाता है ।

स्तव—स्तुति रूप भावमगल करने का ऐसा श्रेष्ठ फल मिलता है। अतएव प्रत्येक समय परमात्मा की प्रार्थना करते रहना चाहिए । भले ही मुख से परमात्मा का नाम लिया जाये या न लिया जाये, लेकिन हृदय मे तो ध्यान बना ही रहना चाहिए । कितनेक लोग 'मुख मे राम बगल मे छुरी' की कहावत चरितार्थ करते हैं और फिर कहते है कि हमे राम का नाम लेने का या प्रार्थना करने का कोई फल ही नही मिला ! लेकिन इस प्रकार खोटी प्रार्थना करने वालो को समझना चाहिए कि तुच्छ भावना के साथ की हुई प्रार्थना या स्तुति से इष्टसिद्धि नही हो सकती । सच्चे अन्त.करण से की गई प्रार्थना या स्तुति ही फलदायिनी सिद्ध होती है।

अतएव सच्चे हृदय मे, निष्कपटभाव से प्रार्थना या स्तुति करनी चाहिए । परमात्मा की प्रार्थना किस प्रकार करना चाहिए ? इसके लिए कहा गया है :—

धर्मजिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो, प्यारा प्राण समान,
कबहूं न विसरू चितारू नहीं, सदा अखडित ध्यान,
ज्यों पनिहारी कुंभ न वीसरे, नटवो वृत्तनिदान,
पलक न वीसरे पदमणी पियु भणी, चकवी न वीसरे भान ।

पनिहारिनें मस्तक पर खेप रखकर वाते करती चली जाती है । पर क्या वे वाते करते समय खेप को भूल जाती है ? नट बाँस पर खेल करता है परन्तु क्या वह अपने शरीर का समतुलन भूल जाता है ? पतिव्रता स्त्री अन्यान्य कार्यों मे प्रवृत्त होने पर भी अथवा सकट मे पडने पर भी क्या अपने पति को भूल जाती है ? सीता, द्रौपदी, दमयन्ती आदि सतियाँ घोर कष्टो मे पडकर भी अपने पति को विसरी नही थी । सच्ची स्त्री अपने पति को कदापि नही भूल सकती और न अन्य पुरुप को अपने हृदय मे स्थान दे सकती है । इसी प्रकार सच्चा पति भी परस्त्री को अपने हृदय मे स्थान नही दे सकता ।

सुना है कि गाधीजी ने अपनी पत्नी करतूरवा को उनकी वीमारी के समय एक पत्र लिखा था कि—'मैं कार्य मे अत्यन्त व्यस्त होने के कारण, बीमारी के समय भी तुम्हारे पास उपस्थित नही हो सकता । लेकिन मैं तुम्हे विश्वास दिलाता हू कि कदाचित् तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी तो मैं कदापि दूसरी पत्नी नही करूँगा । इस प्रकार मैं तुम्हारी मृत्यु का स्वागत करूँगा और अपने मे किसी प्रकार की उदासीनता नही आने दूगा ।'

आज तुम्हारे समक्ष ऐसा उच्च आदर्श उपस्थित है फिर भी तुम्हारे हृदय मे कैसी कायरता आ गई है! जिसमे कायरता होती है वह न तो किसी भी नियम का पालन कर सकता है और न किसी निश्चय पर दृढ ही रह सकता है। कायरों के हाथ मे न कुछ रहता है और न रह ही सकता है । कायरो के हाथ मे व्यावहारिक सत्ता भी तो नही रह सकती ! आज स्वराज्य की माग की जाती है पर कायरो के हाथ मे कौन स्वराज्य देगा और कौन रहने देगा ? इसी प्रकार भगवान् की भक्ति भी कायरो मे और गुलामो मे किस प्रकार टिक सकती है ?

आजकल लोग अपनी सन्तान मे जान-बूझकर कायरता भरते हैं। बालको को बचपन मे ही इस प्रकार दबाया जाता है कि वे दबते ही रहे । मगर लोग यह नही देखते कि उनकी इस करतूत के कारण बालक कितने कायर बन रहे हैं! इसी प्रकार पुरुष, स्त्रियो को दबाते हैं और कायर बनाते है । माताओ मे कायरता होगी तो बालको में कायरता आना स्वाभाविक है । जिस माता-पिता मे वीरता होती है, उन्ही की सन्तान वीर बनती है । सिहनी ही सिह को जन्म देती है । इसी प्रकार वीर माता वीर पुत्र को जन्म देती है और कायर माता कायर सन्तान उत्पन्न करती है ।

कायरता के साथ ही साथ नागरिक जनों में ऐसे कुसस्कार घर कर बैठे हैं कि उनकी बात न पूछिए ! जैसे कुसस्कार नगरो मे नजर आते हैं वैसे ग्रामो मे क्वचित् ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं । ग्रामो मे जैसी पवित्रता दिखाई देती है वैसी पवित्रता शहरो में शायद ही कही दीख पड़े !

पतिव्रता केवल अपने एक पति का ही चित्त प्रसन्न रखना चाहती है और वेश्या अनेक पुरुषो का चित्त प्रसन्न रखने की कोशिश करती है। इन दोनो मे से आपकी दृष्टि मे कौन बडा है ? कहने को तो तुम पतिव्रता को ही बड़ी कहोगे, मगर अपने कथन के अनुसार आचरण भी करते हो या नही ? तुम पतिव्रता को इसलिए बड़ी मानते हो कि वह पतिव्रत का भलीभाति पालन करती है, लेकिन यही बात तुम अपने लिए क्यो नही अपनाते ? पतिव्रता स्त्री मे सिनेमा की नटी के समान नाज-नखरे नजर नही आते लेकिन ससार को टिकाये रखने की और गार्हस्थजीवन को सुखी बनाने की जो शक्ति पतिव्रता मे है, वह वेश्या या सिनेमा की नटी मे नही है।

कहने का आशय यह है कि जैसे पतिव्रता के हृदय में प्रत्येक समय पति का ही ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे हृदय मे प्रतिक्षण परमात्मा का ही ध्यान होना चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि अमुक इस प्रकार नहीं करता तो मै ही ऐसा क्यो करूँ ? तुम्हारे कान मे कीमती मोती है और दूसरे के कान मे नही है, इसी कारण तुम मोती फेंक नही देते वरन् उस मोती को पहन कर अपने को भाग्यशाली समझते हो। व्यवहार में जब ऐसा विचार नही रखते हो तो फिर धर्म के कार्य में यही विचार क्यो नही रखते कि दूसरा कोई धर्म करे या न करे, मैं तो धर्म करूगा ही। जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा धर्म करने मे स्वतन्त्र है। अतएव कोई दूसरा धर्मकार्य करे या न करे तो भी अपने को तो धर्मकार्य करना ही चाहिए। जैसे दूसरो के पास मोती न होने पर भी लोग मोती पहनते हैं और अपने

को भाग्यशाली मानते हैं, उसी प्रकार सद्गुणो के लिए भो यही विचार करना चाहिए कि दूसरा कोई सद्गुणो को अपनावे या न अपनावे, मैं तो अपनाऊंगा ही ! सद्गुणो को अपनाने से अवश्य लाभ होता है । सद्गुणो का लाभ हुए बिना रह ही नही सकता। अतएव सद्गुण धारण करके परमात्मा की प्रार्थना करो तो तुम्हारा कल्याण ही होगा। धर्म समाजगत ही नही, व्यक्तिगत भी है । अतएव जो धर्म का पालन करेगा उसी को लाभ होगा । धर्म सदैव कल्याणकारी है । धर्म को जोवन मे स्थान देने से कल्याण अवश्य होगा ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी बोधि की प्राप्ति स्तव-स्तुतिरूप मगल से होती है, यह वात पहले कही जा चुकी है । बोधि की प्राप्ति होना सम्पूर्ण जैन-धर्म की प्राप्ति होने के बराबर है । इस प्रकार स्तव और स्तुति रूप मगल से सपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है । कहा भी है—

भत्तिए जिणवराणं परमाए खीणदोसाणं ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिमरणं च पावेंति ॥

अर्थात् जिनके राग और द्वेष क्षीण हो गये है, उन जिनवरो की परमभक्ति करने से जीव सशय आदि दोषो से रहित सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का लाभ करता है और अन्त मे समाधिमरण पाता है । ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया का फल प्राप्त करता है ।

अन्तक्रिया का अर्थ बतलाते हुए कहा जा चुका है कि जिस क्रिया द्वारा भव या कर्म नष्ट होते है वह क्रिया अन्तक्रिया कहलाती है । इस प्रकार अन्तक्रिया करता है,

यह कहने का अर्थ यह हुआ कि स्तव और स्तुति रूप भाव-मगल करने वाला जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप बोधि का लाभ करके मुक्ति प्राप्त करता है । मुक्ति का कारण अन्तक्रिया ही है, इसलिए वह अन्तक्रिया भी कहलाती है ।

शास्त्रकारो ने सामग्री के भेद से चार प्रकार की अन्तक्रिया बतलाई है । जैसा कि श्री स्थानागसूत्र मे कहा है—

चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ताओ, तजहा तं खलु इमा पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपचाएया वि भवई, से णं मुंडेभवित्ता अगाराओ अणगारियंपव्वइए, संजमबहुले, संवर-बहुले, समाहिबहुले, लूहे, तीरट्ठी, उवहाणव, दुक्खक्खवे, तवस्सी, तस्स ण णो तहप्पगारे तवे भवई, णो तहप्पगारा वेयणा भवई, तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणंपरियावेणं सिज्झई, बुज्झई, मुच्चई, परिणिव्वाई, सव्वदुक्खाणमतं करेई, जहा से भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी, पढमा अंतकिरिया ।

अर्थात्— एक होने पर भी सामग्री के भेद से अन्त-क्रिया के चार भेद किये गये है । इस चार प्रकार की अन्तक्रिया में से पहली अन्तक्रिया का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि इस ससार मे कोई-कोई पुरुष ऐसा होता है कि जो सम्भवत. देवलोक आदि मे गमन करके, अल्प-कर्मी होकर अर्थात् अनेक कर्मो का उच्छेद करने के पश्चात् मनुष्यलोक मे आता है । वह मनुष्यलोक मे मुडित होता है अर्थात् द्रव्य से घर-द्वार छोडकर, केशलोच करके और भाव से अविवेकरूप राग-द्वेप से बाहर निकलकर अनगार-प्रव्रजित होता है। इस प्रकार प्रव्रज्या लेकर वह पृथ्वीकाय आदि की रक्षा करता हुआ सुसयमवान् बनता है और परि-पूर्ण सयमी होकर आस्रव रोकने के लिए अथवा इन्द्रियों

और कषायो का दमन करने के लिए अनेक प्रकार से सवर धारण करता है। तथा समभाव और ज्ञानादि उत्पन्न करने वाली समाधि को धारण करके वह शातिरूप और ज्ञानादिरूप समाधि से समाधिवान् बनता है और वह शरीर एव मन से रूक्षवृत्ति वाला बनता है अर्थात् किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति नही रखता । वह कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील तथा सतत जागृत रहता है। इस प्रकार ससार-समुद्र को पार करता हुआ वह किनारे पहुचता है और तप मे उद्यत होकर दु ख का नाश करता है । वह शुभध्यान-रूप तप का तपस्वी होने के कारण तपस्वी कहलाता है । ऐसे तपस्वी पुरुष का तप सतापजनक घोर नही होता । उसे देवादि का भी उपसर्ग नही होता । लघुकर्मी होने के कारण वह पुरुष दीर्घकाल तक दीक्षा का सम्यक् प्रकार मे पालन करके सिज्झइ अर्थात् मोहकर्म नष्ट करके सिद्धगति के योग्य वनता है, बुज्झई अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करके तत्त्ववोध पाता है, मुच्चई अर्थात् भवभ्रमण कराने वाले कर्मो को नष्ट कर मुक्त होता है और परिनिव्वाई अर्थात् समस्त उपाधियो से छुटकारा पाकर शान्त हो जाता है । ऐसा सिद्ध, वुद्ध और मुक्त पुरुष समस्त दु.खो का अन्त कर डालता है अर्थात् सब दु.खो से रहित हो जाता है ।

प्रथम अन्तक्रिया के लिए शास्त्रकारो ने भरत चक्रवर्ती का उदाहरण दिया है । उनका कथन है प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के सवसे ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती पूर्वभव मे लघुकर्मी होकर सर्वार्थसिद्धविमान मे गये थे और फिर वहा से च्युत होकर मनुष्यलोक मे भरत चक्रवर्ती हुए तथा केवलज्ञान प्राप्त करके, एक लाख पूर्व तक सयम पाल कर

सिद्धिगति को प्राप्त हुए थे । यह पहली अन्तक्रिया का स्वरूप हुआ ।

पहली और दूसरी अन्तक्रिया में यह अन्तर है कि दूसरी अन्तक्रिया मे तप और वेदना प्रवल होती है किन्तु दीक्षा कम होती है अर्थात् अल्प प्रव्रज्या से ही मोक्ष हो जाता है । गजसुकुमार मुनि ने यह अन्तक्रिया की थी ।

तीसरी अन्तक्रिया मे दीक्षा भी लम्वे समय तक पाली जाती है और कष्ट भी वहुत महन करना पड़ता है, तव मोक्ष प्राप्त होता है । जैसे सनत्कुमार चक्रवर्त्ती को दीर्घ-काल तक सयम का पालन करने के वाद मोक्ष मिला था । सनत्कुमार चक्रवर्त्ती की मोक्षप्राप्ति के सम्वन्ध मे आचार्यों मे मतभेद है । किसी आचार्य के मत से वह मोक्ष गये हैं और किसी के मत से देवगति मे गये है ।

चौथी अन्तक्रिया पहली के ही समान है। उसमें केवल यही अन्तर है कि चौथी अन्तक्रिया मे अल्पकाल की और अल्प कष्ट की दीक्षा से ही सिद्धि प्राप्त होती है । जैसे मरुदेवी माता को हाथी के हौदे पर वैठे-वैठे मोक्ष मिल गया था ।

माता मरुदेवी का जो उदाहरण दिया गया है, उसके सम्वन्ध मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले मु डित होना आदि जो गुण वतलाये गये है, ये मरुदेवी मे कहा थे? इस प्रश्न का उत्तर टीकाकार ने यह दिया है कि यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक मे पूर्ण समानता नही खोजनी चाहिए ।

भगवान् ने उत्तराध्ययनसूत्र में जो उत्तर दिया है,

उसमें ऐसा पाठ आया है—

अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ।

कतिपय आचार्य इस पाठ का अर्थ यह करते हैं कि 'अन्त किरिया' शब्द मे का 'अ' अक्षर प्रश्लेष होकर 'अ अन्तकिरिया' शब्द बन जाता है, जिसका अर्थ यह है कि जीव उसी भव में मोक्ष नही जाता किन्तु परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। इस कथन का अर्थ यह हुआ कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की जिस आराधना से देवलोक या विमान मे उत्पत्ति होती है उस आराधना से कल्प या अनुत्तर विमान मे उत्पत्ति होती है और फिर परम्परा से जीव मोक्ष पाता है।

कहने का आशय यह है कि स्तव और स्तुति रूप मगल से सपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति होती है, फिर भले ही मोक्ष उसी भव मे मिले या परम्परा से, किन्तु जिस धर्म से मुक्ति प्राप्त होती है उस सपूर्ण जैनधर्म की प्राप्ति तो स्तव और स्तुति मगल से ही होती है। अतएव एकान्त भाव से स्तुति और स्तव रूप मगल करते रहना चाहिए। अगर बडी स्तुति या स्तव हो सके तो ठीक ही है, अन्यथा परमात्मा की स्तुति में कहे दो शब्द भी पर्याप्त हैं। वास्तव मे महापुरुषो के प्रति अपने भाव समर्पित कर देने चाहिए। जैसे चन्दनबाला ने भगवान् महावीर को उडद के छिलके दान दिये थे। यहाँ विचारणीय यह है कि कीमत उडद के छिलको की थी या भावो की? वास्तव मे कीमत उडद के छिलको की नही, हृदय के भावो की थी। अतएव तुम भी भगवान् को अपने भाव समर्पित कर दो। तुम्हे सब प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई है, फिर अपने भाव भगवान् के प्रति क्यो अर्पित नही करते?

वहुत से लोग कहा करते हैं—अभी धर्मकरणी करके क्या करें ? आजकल मोक्ष तो मिला है नही, मिलता है सिर्फ स्वर्ग, सो वह वहुत धर्मक्रिया से भी मिल सकता है और थोडी धर्मक्रिया से भी मिल सकता है। ऐसा कहने वालो से ज्ञानीजनो का कथन है कि ऐसा समझकर धर्मक्रिया करने मे आलस्य करना भूल है। धर्मक्रिया करते समय इसी भव मे मोक्ष मिलेगा, ऐसा मानना ही हितकर है। इसी भव मे मोक्ष न मिला तो न सही, धर्मक्रिया करने से तुम मोक्ष के पथिक तो वनोगे ही। अतएव धर्मक्रिया करने मे प्रमाद मत करो। शास्त्र का कथन है कि जीव अगर आराधक हो, फिर भी इसी भव मे मोक्ष न जाये तो पन्द्रहवे भव मे तो अवश्य ही मोक्ष जायेगा। अतएव आराधक वनने मे प्रमाद करना योग्य नही है। तुम्हे जो सामग्री मिली है उसका उपयोग धर्मक्रिया में करना ही आराधक होने का मार्ग है। परमात्मा की भक्ति करना, स्तुति करना सरल से सरल काम है। अगर इतना सरल काम भी तुम न कर सके तो दूसरे काम कैसे कर सकोगे ?

इस ससार मे एक तो शुद्धता है और दूसरी अशुद्धता है। अशुद्धता से निकल कर शुद्धता मे प्रवेश करना ही हमारा कर्तव्य है। मान लीजिए, आपके गाव मे दो तालाव है। एक तालाव का पानी मलीन और दूसरे का निर्मल है। ऐसी स्थिति मे आप किस तालाव मे स्नान करना चाहेगे ? आप यही कहेगे कि निर्मल तालाव मे ही स्नान करना उचित है। इस विषय मे आप भूल नही करते। मगर यही वात अपने हृदय और आत्मा के विषय मे सोचो। आप अपने हृदय मे शुद्ध विचार लाकर भी उसमें आत्मा को स्नान करा

सकते हैं और अशुद्ध विचार लाकर भी आत्मा को उसमें नहला सकते हैं। तो फिर अगर आप शुद्ध विचार लाकर उसमे आत्मा को स्नान कराएँ तो आपकी क्या हानि है ? क्या ऐसा करने के लिए कोई धर्मशास्त्र निषेध करता है? चित्तशुद्धि के लिए सभी कहते हैं, फिर चित्त को शुद्ध करके उसमे आत्मा को क्यो स्नान नही कराते ? भगवान् ने कहा है—स्तव और स्तुतिरूप भावमगल करने से जीव आराधक होता है और मोक्ष प्राप्त करता है। भगवान् के इस कथन पर विश्वास रखकर स्तव और स्तुतिरूप मगल का अभ्यास कर देखो तो पता चलेगा कि स्तव-स्तुतिमगल से कितना अधिक लाभ होता है!

मुझे बचपन से ही णमोकार मन्त्र पर विश्वास था। जब मैं समझता कि मुझ पर किसी प्रकार का सकट आ पडा है, तब मैं इस महामन्त्र का स्मरण करके शरण लेता था। णमोकार म त्र का शरण लेने से मेरा सकट मिट भी जाता था। लोग कहते है वालक णमोकारमन्त्र मे क्या समझें ? मगर शास्त्र का कथन है कि गर्भ का बालक भी श्रद्धावान् होता है। जब गर्भस्थ वालक भी श्रद्धावान् होता है तो चलता-फिरता वालक श्रद्धावान् क्यो नही हो सकता? गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे लिखा है कि मेरी रम्भा धाय ने परमात्मा के नाम के विश्वास का जैसा प्रभाव मेरे ऊपर बचपन मे डाला था, वैसा प्रभाव अनेक ग्रन्थ पढने पर भी नही पड सकता।

इस प्रकार वालको पर भी परमात्मा के नाम का प्रभाव पडता है और वे भी परमात्मा के नाम पर विश्वास करते है। हा, उन्हे विश्वास कराने की आवश्यकता रहती

है। क्या आप अपने बालकों के लिए ऐसा प्रयत्न करते हैं कि वे परमात्मा के नाम पर विश्वास रखे ? तुम बालको को फैसी कपडे तो पहनाते हो मगर उनसे बालको की आत्मा का कल्याण नही हो सकता। आत्म-कल्याण तो धर्म पर श्रद्धा रखने से ही होता है। तुम अपने बालको को धन-दौलत आदि की विरासत तो सौंपते हो मगर साथ ही साथ अपने धर्म की विरासत भी सौंपो। ऐसा करने से उनका भी कल्याण होगा और तुम्हारा भी कल्याण होगा।

पन्द्रहवां बोल

कालप्रतिलेखन

स्तव–स्तुतिमगल करने के बाद स्वाध्याय किया जाता है, मगर स्वाध्याय यथासमय होना चाहिए । अकाल में स्वाध्याय करने का निषेध है । इस कारण अब कालप्रतिलेखन के विपय में प्रश्न किया जाता है ।

मूलपाठ

प्रश्न—कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयई?

उत्तर— कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेई ।

शब्दार्थ

प्रश्न – हे भगवन् ! स्वाध्याय आदि कालप्रतिलेखन से जीव को क्या लाभ है ?

उत्तर—काल में स्वाध्याय आदि करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का क्षय करके जीव मोक्ष प्राप्त करता है ।

व्याख्यान

भगवान् के इस उत्तर पर विचार करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि काल का अर्थ क्या है ?

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम है । काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार मे ज्योतिष-शास्त्र बना है । काल को समझने के लिए ही घडी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले हैं । शास्त्र मे कहा है कि काल भी छह द्रव्यो मे से एक द्रव्य है । किन्तु काल स्वतन्त्र द्रव्य नही वरन् औपचारिक द्रव्य है । पचास्तिकाय की षड्गुणहानि वृद्धि का माप काल कहलाता है, अतएव काल स्वतन्त्र द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य है ।

काल शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है-भाव-साधन घञन्त से, कर्मसाधन घञन्त से और करणसाधन घञन्त से । भावसाधन घञन्त से काल की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'कलन काल' अर्थात् गणना को काल कहते है । 'कल्यते य. स काल.' अर्थात् जिसकी गणना की जाये वह काल है, यह काल शब्द की कर्मसाधन घञन्त व्युत्पत्ति है । करणसाधन घञन्त की दृष्टि से काल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है— 'कल्यतेऽनेन इति काल.' अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाये वह काल है। इस प्रकार काल की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है। इन सब व्युत्पत्तियो का संग्रह करते हुए एक गाथा मे कहा गया है—

कलणं पज्जायाणं कलिज्जए तेण वा जम्रो वत्थु ।
कलयति तय तम्मि व समवाइ कलासमूहो वा ।।

इस गाथा का भाव यह है कि यह नया है, यह पुराना है, इत्यादि व्यवहार को भी काल ही कहते है । समय, घड़ी,

दिन, पक्ष, मास, ऋतु और सबत्सर आदि के व्यवहार का कारण भी काल ही है। यह एक मास का है, यह दो महीने का है, यह शरदऋतु का है, इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा किया जाता है, वह काल है। ज्ञानीजन जिसे समय कहते हैं वह भी काल ही है। समय, कला आदि जिसका काल से विभाग नही हो सकता-का समूह भी काल ही कहलाता है।

अन्य दर्शनकारो ने काल को बहुत अधिक महत्व दिया दिया है। यहाँ तक कि कोई-कोई दर्शनकार तो उसे ईश्वर के समान मानते है। उनका कथन है कि यह सारा ससार काल के गाल मे समाया हुआ है। काल ही विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु जैनदर्शन अनेकान्तवाद का समर्थक है। वह किसी अपेक्षा से ऐसा मानता है और दूसरी अपेक्षा से इस कथन का निपेध भी करता है। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार गणना को या जिसके द्वारा गणना की जाये उसे अथवा जिसकी गणना की जाये उसे काल कहते हैं। काल द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। काल का पर्याय-समय आदि, जिनका दूसरा भाग नही हो सकता, वह भी काल ही कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह भी काल है।

काल की सहायता के बिना वस्तु का ज्ञान नही हो सकता। वस्तु को ग्रहण करने में काल का विचार करना ही पडता है। इसी प्रकार विवाह सम्बन्ध आदि मे भी काल की सहायता ली जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तुओ का माप काल द्वारा ही किया जाता है।

काल तो प्रर्वत्त ही रहा है परन्तु भगवान् से जो प्रश्न पूछा गया है, वह यह है कि काल का प्रतिलेखन करने से

काल एक जगत्प्रसिद्ध वस्तु है किन्तु उसे समझने वाले और उसका महत्व समझ कर उससे लाभ उठाने वाले लोग बहुत कम है। काल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए और काल से लाभ उठाने के लिए ही व्यवहार मे ज्योतिष-शास्त्र बना है। काल को समझने के लिए ही घडी तथा इसी प्रकार के अन्य साधन निकले है। शास्त्र मे कहा है कि काल भी छह द्रव्यो में से एक द्रव्य है। किन्तु काल स्वतन्त्र द्रव्य नही वरन् औपचारिक द्रव्य है। पचास्तिकाय की षट्गुणहानि वृद्धि का माप काल कहलाता है, अतएव काल स्वतन्त्र द्रव्य न होकर औपचारिक द्रव्य है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—भावसाधन घञन्त से, कर्मसाधन घञन्त से और करणसाधन घञन्त से। भावसाधन घञन्त से काल की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है 'कलन काल' अर्थात् गणना को काल कहते है। 'कल्यते यः स काल.' अर्थात् जिसकी गणना की जाये वह काल है, यह काल शब्द की कर्मसाधन घञन्त व्युत्पत्ति है। करणसाधन घञन्त की दृष्टि से काल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है— 'कल्यतेऽनेन इति काल:' अर्थात् जिसके द्वारा गणना की जाये वह काल है। इस प्रकार काल की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है। इन सब व्युत्पत्तियो का सग्रह करते हुए एक गाथा मे कहा गया है—

कलण पज्जायाणँ कलिज्जए तेण वा जम्रो वत्थु।
कलयति तय तम्मि व समवाइ कलासमूहो वा ॥

इस गाथा का भाव यह है कि यह नया है, यह पुराना है, इत्यादि व्यवहार को भी काल ही कहते हैं। समय, घड़ी,

दिन, पक्ष, मास, ऋतु और सवत्सर आदि के व्यवहार का कारण भी काल ही है। यह एक मास का है, यह दो महीनें का है, यह शरदऋतु का है, इत्यादि व्यवहार जिसके द्वारा किया जाता है, वह काल है। ज्ञानीजन जिसे समय कहते है वह भी काल ही है। समय, कला आदि जिसका काल से विभाग नही हो सकता–का समूह भी काल ही कहलाता है।

अन्य दर्शनकारो ने काल को बहुत अधिक महत्व दिया दिया है। यहाँ तक कि कोई-कोई दर्शनकार तो उसे ईश्वर के समान मानते हैं। उनका कथन है कि यह सारा ससार काल के गाल मे समाया हुआ है। काल ही विश्व की सृष्टि करता है। किन्तु जैनदर्शन अनेकान्तवाद का समर्थक है। वह किसी अपेक्षा से ऐसा मानता है और दूसरी अपेक्षा से इस कथन का निषेध भी करता है। इस दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार गणना को या जिसके द्वारा गणना की जाये उसे अथवा जिसकी गणना की जाये उसे काल कहते हैं। काल द्रव्य रूप भी है और पर्याय रूप भी है। काल का पर्याय–समय आदि, जिनका दूसरा भाग नही हो सकता, वह भी काल ही कहलाता है। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो वह भी काल है।

काल की सहायता के बिना वस्तु का ज्ञान नही हो सकता। वस्तु को ग्रहण करने मे काल का विचार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार विवाह सम्बन्ध आदि मे भी काल की सहायता ली जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त वस्तुओ का माप काल द्वारा ही किया जाता है।

काल तो प्रवर्त्त ही रहा है परन्तु भगवान् से जो प्रश्न पूछा गया है, वह यह है कि काल का प्रतिलेखन करने से

एव अगर सूत्र का नाम लेकर कोई यह कहता है कि हम पक्खी-सवत्सरी की आराधना सूत्रोक्त तिथि आदि के आधार पर करते हैं तो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि वर्त्तमान मे सूत्रो द्वारा यह निर्णय नही हो सकता कि किस प्रकार या किस रीति से ज्योतिष सम्बन्धी गणना करनी चाहिए या तिथि माननी चाहिए । आजकल लौकिक और जित व्यवहार के आधार पर पक्खी-सवत्सरी आदि की आराधना की जाती है, वह ठीक है और एक प्रकार से सूत्रसम्मत है । पक्खी–सवत्सरी आदि का आराधन इसी प्रकार करना उचित है ।

शास्त्र मे पाच प्रकार के व्यवहार कहे गये है—(१) आगम–व्यवहार (२) सूत्र–व्यवहार (३) आणा–व्यवहार (४) धारणा-व्यवहार और जित–व्यवहार । जब आगम–व्यवहार वगैरह कम होते जाते हैं या हो जाते हैं तब पाच आचार्य मिलकर जो नियम बनाते है, उसे जित–व्यवहार कहते हैं । पक्खी-सवत्सरी आदि जित–व्यवहार के अनुसार ही करनी चाहिए किन्तु आगम के नाम पर इस बात को घोटकर चिकना करना उचित नही है । पक्खी या संवत्सरी के दिन तो अपने पापो की ही आलोचना करनी होती है तो फिर इस बात को लेकर निकम्मे झगडे खडे करना कैसे उचित कहा जा सकता है ?

टीकाकार का कथन है कि काल के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण हो सकता है और काल के अनुसार ही करना चाहिए । उदाहरणार्थ साधु दिन रहते ही भोजन कर सकते है, रात्रि के समय नही; परन्तु दिन कितना बडा होता है और कब से कब तक दिन समझना चाहिए, इसका कोई

एकान्त निश्चय नही हो सकता । अतएव यही कहा जाता है कि कालानुसार जितने मुहूर्त्त का दिन हो तदनुसार दिवस की मर्यादा मे ही साधु भोजन कर सकते है, क्योकि दिन छोटा भी होता है और वडा भी होता है । ऐसी दशा में यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि इस समय से इस समय तक या इतने काल को दिवस मानना चाहिए । मान लीजिए कि एक आदमी चौविहार का त्यागी है । वह रात्रि को खाता–पीता नही है । वह कार्यवश भारत से अमेरिका गया । भारत मे जिस समय दिन होता है, उस समय अमेरिका मे रात्रि होती है, ऐसा सुना जाता है और जब वहा रात्रि होती है तव यहाँ दिन होता है । ऐसी स्थिति में वह चौविहार के प्रत्याख्यान का पालन किस जगह के दिवस के अनुसार करेगा ? ऐसे मनुष्य के विपय मे यही कहा जायेगा कि वह जब तक अमेरिका मे रहे तव तक वहा के दिन के अनुसार ही चौविहार का प्रत्याख्यान करे । इस पर विचारणीय वात यह उपस्थित होती है कि जब यह वात व्यवहार के अनुमार ही मानी जाती है तो सवत्सरी या पक्खी वगैरह भी लौकिक और जित-व्यवहार के अनुसार न मान कर आगम के नाम पर झगडा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

साधु–सम्मेलन के समय सवत्सरी–पक्खी आदि का प्रश्न सामने आया था तब सबने मिलकर यह निर्णय किया था कि यह विषय कॉन्फ्रेस को सौप दिया जाये और कॉन्फ्रेंस जो निर्णय करे तदनुसार ही सवत्सरी–पक्खी आदि का आराधन किया जाये । इस प्रकार का प्रस्ताव करके साधुओ ने अपने हस्ताक्षर करके यह विषय कॉन्फ्रेंस को सौप दिया

अर्थात् विचार करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि काल का विचार करना आवश्यक है। काल का प्रतिलेखन न करने से बहुत अनर्थ होते है। काल कैसा है और कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस बात का विचार न करने से अत्यन्त हानि होती है। काल के विरुद्ध व्यवहार करने के कारण हानि होना स्वाभाविक है।

कितने ही लोग ऐसे हैं जो किसी काम के बिगड जाने पर सारा दोष काल के मत्थे मढ देते हैं। मगर यह उनकी भूल है। उसमे काल के विरुद्ध कार्य करने वाले का दोष है, काल का नही। काल खराब हो तो उसका सुधार भी किया जा सकता है। काल का सुधार अगर सभव न होता तो शास्त्र मे उसका उपक्रम और उसके द्रव्य, क्षेत्र काल, और भाव, यह चार भेद न बतलाये गये होते। काल का भी उपक्रम होता है, फिर भले ही वह परिकर्म अर्थात् सुधार के रूप मे हो या वस्तुविनाश के रूप मे हो। यद्यपि काल का प्रभाव अवश्य पडता है किन्तु उद्योग करने से काल मे सुधार किया जा सकता है।

इस काल मे कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा कार्य नही करना चाहिए, यह विचार करना आवश्यक है। काल को दृष्टि मे रखकर रहन-सहन और खान-पान मे भी परिवर्त्तन करना आवश्यक हो जाता है। काल को दृष्टि के सन्मुख रखकर उचित परिवर्त्तन न करने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती है। काल तो अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता ही जाता है, मगर काल का विचार न रखने वाला और अकाल कार्य करने वाला अवश्य दुखी होता है। यह बात ध्यान मे रखते हुए भगवान् से यह

प्रश्न किया गया है कि—भगवन् ! काल का प्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? शास्त्रकार कहते है—

काले काल समायरे

अर्थात्—जिस काल में जो कार्य करना योग्य है, उस काल में वही कार्य करना चाहिए। स्वाध्याय करते समय सध्या आदि का ध्यान रखना चाहिए और देखना चाहिए कि यह काल स्वाध्याय करने का है या प्रतिक्रमण करने का ? इस प्रकार विचार कर जो काल, जिस कार्य के लिए नियत हो, उस काल मे वही कार्य करना चाहिए । ऐसा न हो कि स्वाध्याय के समय प्रतिक्रमण किया जाये और प्रतिक्रमण के समय स्वाध्याय किया जाये । प्रत्येक कार्य नियत समय पर ही करना उचित है, अकाल मे नही । अकाल मे कार्य करने का निषेध किया है ।

शास्त्र मे इस बात पर विचार किया गया है कि किस दिन सवत्सरी और पक्खी वगैरह मानना चाहिए । इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि सवत्सरी या पक्खी किस प्रमाण के अनुसार मानना चाहिए ? इस प्रश्न का सामान्य समाधान यह है कि सवत्सरी आदि आगमानुसार माननी चाहिए । लेकिन मेरी मान्यता के अनुसार शास्त्र मे ज्योतिष सम्बन्धी जो बाते आई है, उनके आधार पर कोई ठीक पचांग निकल सकना सभव नही है । फिर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर वर्त्तमान मे विद्यमान अगोपांगों के आधार पर अगर कोई पचाग नही बन सकता तो ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वर्त्तमान मे जो अगोपाग मौजूद है उनके आधार से, मेरी मान्यता के अनुसार पचाग नही बन सकता । अत-

एव अगर सूत्र का नाम लेकर कोई यह कहता है कि हम पक्खी- सवत्सरी की आराधना सूत्रोक्त तिथि आदि के आधार पर करते हैं तो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योकि वर्त्तमान मे सूत्रो द्वारा यह निर्णय नही हो सकता कि किस प्रकार या किस रीति से ज्योतिप सम्वन्धी गणना करनी चाहिए या तिथि माननी चाहिए। आजकल लौकिक और जित व्यवहार के आधार पर पक्खी-सवत्सरी आदि की आराधना की जाती है, वह ठीक है और एक प्रकार से सूत्रसम्मत है। पक्खी-सवत्सरी आदि का आराधन इसी प्रकार करना उचित है।

शास्त्र मे पाच प्रकार के व्यवहार कहे गये है-(१) आगम-व्यवहार (२) सूत्र-व्यवहार (३) आणा-व्यवहार (४) धारणा-व्यवहार और जित-व्यवहार। जव आगम-व्यवहार वगैरह कम होते जाते हैं या हो जाते हैं तव पाच आचार्य मिलकर जो नियम वनाते है, उसे जित-व्यवहार कहते है। पक्खी-सवत्सरी आदि जित-व्यवहार के अनुसार ही करनी चाहिए किन्तु आगम के नाम पर इस वात को घोटकर चिकना करना उचित नही है। पक्खी या संवत्सरी के दिन तो अपने पापो की ही आलोचना करनी होती है तो फिर इस वात को लेकर निकम्मे झगड़े खडे करना कैसे उचित कहा जा सकता है?

टीकाकार का कथन है कि काल के अनुसार ही वस्तु का ग्रहण हो सकता है और काल के अनुसार ही करना चाहिए। उदाहरणार्थ साधु दिन रहते ही भोजन कर सकते है, रात्रि के समय नही; परन्तु दिन कितना वडा होता है और कव से कव तक दिन समझना चाहिए, इसका कोई

एकान्त निश्चय नही हो सकता। अतएव यही कहा जाता है कि कालानुसार जितने मुहूर्त्त का दिन हो तदनुसार दिवस की मर्यादा मे ही साधु भोजन कर सकते है, क्योकि दिन छोटा भी होता है और बडा भी होता है। ऐसी दशा में यह निर्णय कैसे किया जा सकता है कि इस समय से इस समय तक या इतने काल को दिवस मानना चाहिए। मान लीजिए कि एक आदमी चौविहार का त्यागी है। वह रात्रि को खाता-पीता नही है। वह कार्यवश भारत से अमेरिका गया। भारत मे जिस समय दिन होता है, उस समय अमेरिका मे रात्रि होती है, ऐसा सुना जाता है और जब वहा रात्रि होती है तव यहाँ दिन होता है। ऐसी स्थिति में वह चौविहार के प्रत्याख्यान का पालन किस जगह के दिवस के अनुसार करेगा ? ऐसे मनुष्य के विपय मे यही कहा जायेगा कि वह जब तक अमेरिका मे रहे तब तक वहा के दिन के अनुसार ही चौविहार का प्रत्याख्यान करे। इस पर विचारणीय वात यह उपस्थित होती है कि जब यह वात व्यवहार के अनुमार ही मानी जाती है तो सवत्सरी या पक्खी वगैरह भी लौकिक और जित-व्यवहार के अनुसार न मान कर आगम के नाम पर झगडा करना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

साधु-सम्मेलन के समय सवत्सरी-पक्खी आदि का प्रश्न सामने आया था तब सबने मिलकर यह निर्णय किया था कि यह विषय कॉन्फ्रेस को सौंप दिया जाये और कॉन्फ्रेस जो निर्णय करे तदनुसार ही सवत्सरी-पक्खी आदि का आराधन किया जाये। इस प्रकार का प्रस्ताव करके साधुओ ने अपने हस्ताक्षर करके यह विषय कॉन्फ्रेस को सौप दिया

है । फिर भी अगर कोई साधु इस निर्णय के विरुद्ध कोई बात कहता है तो वह कैसे उचित कही जा सकती है? यो तो प्रत्येक का मस्तिष्क और विचार जुदा–जुदा होता है । अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने विचारो की वात करने लगे और निश्चय की हुई बात के विरुद्ध मत प्रकट करे तो कैसे काम चल सकता है? शास्त्र मे जितव्यवहार ही माननीय बतलाया है । उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

धम्मं जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया ।
तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छई ॥

अर्थात्—धर्म के लिए आचार्यों ने मिलकर जो जिताचार वनाया है, उसी जिताचार के अनुसार व्यवहार करने वाला कदापि निन्दापात्र नही वनता वल्कि आराधक ही रहता है ।

इस कथन के अनुसार पांच महापुरुष मिलकर, निस्पृहतापूर्वक विचार करके जो नियम–निर्णय करते हैं, वह जिताचार कहलाता है और जिताचार के अनुसार चलना उचित है । आजकल के लोगो की बुद्धि में उत्पात भरा रहता है अतएव सवत्सरी वगैरह के नाम पर वेकार क्लेश खडा किया जाता है । बुद्धिमान पुरुषो को इस प्रकार के क्लेश से बचना चाहिए।

कालप्रतिलेखन करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि कालप्रतिलेखन से जीव के ज्ञानावरण आदि कर्मों की निर्जरा होती है ।

भगवान् ने कालप्रतिलेखन का कितना लाभ बतलाया है ? अतएव कालप्रतिलेखन करना चाहिए और जिस काल में जो काम करने योग्य हो उस काल मे वही कार्य करना चाहिए। कालानुसार कार्य करने से आत्मा का कल्याण होता है।

सोलहवाँ बोल

प्रायश्चित्त

शास्त्र में कालप्रतिलेखन के विषय में विचार किया गया है। अगर कालप्रतिलेखन करने मे कोई त्रुटि रह गई हो अर्थात् अकाल मे स्वाध्याय आदि किया हो तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतएव यहा प्रायश्चित्त पर विचार किया जाता है। प्रायश्चित के सम्बन्ध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न पायच्छित्तकरणेण भंते! जीवे कि जणयइ?

उत्तर— पायच्छित्तकरणेण पावकम्मविसोहिं जणेइ, निरइयारे यावि भवइ, सम्म च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्ग च मग्गफल च विसोहेइ, आयारं आयारफलं च आराहेइ।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर— प्रायश्चित्त करने से पाप की विशुद्धि होती

है और जीव व्रतो में लगे अतिचारो से रहित हो जाता है, शुद्ध मन से प्रायश्चित्त ग्रहण करके कल्याणमार्ग और फल की भी विशुद्धि करता है तथा क्रमश चारित्र एव चारित्र के फल (मोक्ष) का आराधन कर सकता है।

व्याख्यान

सन्मति प्राप्त करना या पाप का छेदन करना एक ही बात है। भले ही इनमे शाब्दिक अन्तर हो मगर वास्तविक अन्तर नही है । प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का छेदन करना या चित्त की शुद्धि करना है। पाप का छेदन करना, चित्त की शुद्धि करना अथवा सन्मति प्राप्त करना एक ही बात है।

प्रायश्चित्त के प्रश्न के पहले कालप्रतिलेखन का प्रश्न आया है। स्वाध्याय आदि के लिए काल का प्रतिलेखन न करने से या स्वाध्याय न करने से अथवा अकाल मे स्वाध्याय करने से प्रायश्चित्त आता है।

जो मनुष्य कोई कार्य करता है, उसी के कार्य में गुण या दोष हो सकता है। काम ही न करने वाले के काम मे गुण-दोष कहा से आएगा ! घोडे पर सवारी करने वाला ही कभी गिर सकता है। जो कभी घोडे पर सवार ही नही होता, उसके लिए गिरने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। इसी प्रकार जो स्वाध्याय करता है, उसी को स्वाध्याय सम्बन्धी अतिचार लग सकता है और अतिचार को दूर करने के लिए ही प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। सब व्युत्पत्तियों को बतलाने का समय नही है, अतएव

सक्षेप मे सिर्फ इतना ही कहता हूं कि 'प्राय' और 'चित्त' इन दो शब्दो के मेल से प्रायश्चित्त शब्द बना है। टीकाकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है -

प्रायः पापं विजानीयात् चित्त तस्य विशोधनम् ।

प्राय' का अर्थ है-पाप । अत्यन्त रूप से आत्मा का अतिचार या दोषो मे गमन करना पाप है और 'चित्त शुद्धो' धातु से चित्त शब्द बना है, जिसका अर्थ विशोधन है। इस प्रकार जिस अनुष्ठान से या व्रत से पाप का विशोधन हो उसे प्रायश्चित्त कहते है । इस प्रायश्चित्त के सम्बन्ध मे भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

प्रायश्चित्त चार प्रकार का है- (१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य और (४) भाव से। नाम प्रायश्चित्त और स्थापना प्रायश्चित्त तो केवल उच्चार या कथन रूप ही है। द्रव्य प्रायश्चित्त लोकरजन के लिए किया जाता है। वह एक प्रकार से लोक-दिखावा ही है । हृदय के पापो को नष्ट करने की भावना से जो व्रत या अनुष्ठान किया जाता है वह भाव प्रायश्चित्त है ।

प्राय शब्द का अर्थ 'विशेप' भी है । इस पर प्रश्न हो सकता है कि विशेष पाप किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सूक्ष्म अर्थात् जिसका प्रतीकार न किया जा सके उस अप्रतिकारी पाप का प्रायश्चित्त नही होता, वरन् जो पाप प्रतिकारी है अर्थात् जिस पाप का प्रतीकार करना शक्य है और जो कार्य शास्त्र मे निषिद्ध ठहराया गया है, उसी पाप कार्य का प्रायश्चित्त होता है ।

यहाँ विशेष शब्द से उसी पाप को ग्रहण करने का संकेत किया गया है। उदाहरणार्थ—कोई-कोई प्राणातिपात ऐसा होता है, जिसका प्रतिकार नही किया जा सकता। जैसे, शास्त्रीय विधि के अनुसार एक जगह से पैर उठाकर दूसरी जगह रखने से भी हिंसा होती है। किन्तु इस प्रकार की हिंसा का निवारण नही हो सकता। यह हिंसा शरीर के साथ लगी हुई है—जब तक शरीर तब तक यह हिंसा भी अवश्यभावी है। अतएव इस प्रकार की हिंसा का प्रायश्चित्त भी नही है। एक हिंसा शास्त्र द्वारा निषिद्ध है और दूसरी शरीर के साथ लगी है। दोनो प्रकार की हिंसा में से शास्त्रनिषिद्ध हिंसा का तो प्रतीकार हो सकता है परन्तु शरीर के साथ लगी हुई हिंसा का प्रतिकार नही हो सकता। अतएव शरीर के साथ लगी हिंसा का प्रायश्चित्त भी नही है।

शास्त्र में जिन पापो का वर्णन है, उन सब के दो कारण हैं। कोई-कोई कप्पिया पाप है और कोई-कोई दप्पिया पाप है। अर्थात् कोई पाप तो लाचार होकर करना पडता है और कोई पाप अहकार से किया जाता है। पाप भले ही लाचार होकर किया जाये या अहकार से किया जाये, पर पाप तो दोनो ही है। पाप का प्रकार कोई भी क्यो न हो, मगर पाप आखिर है तो पाप ही। इस प्रकार के पाप के लिए भावप्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—भावप्रायश्चित्त द्वारा जीव पापकर्म की विशुद्धि करता है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर से यह स्पष्ट हो जाती है कि 'पाय' या 'प्राय' का अर्थ पाप है और प्रायश्चित्त का अर्थ पाप का विशोधन करना है। प्रायश्चित्त करने से

पाप का विशोधन होता है और जीव निरतिचार बनता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मर्यादा का उल्लघन होना अतिचार कहलाता है। प्रायश्चित्त से अतिचार मिट जाता है और जीव निरतिचार बनता है।

भगवान् द्वारा दिये गये उत्तर में यह पाठ आया है–

सम्मं च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ।

इस पाठ का अर्थ यह है कि आगमोक्त विधि से प्रायश्चित्त करने वाला जीव कल्याणमार्ग और उसके फल का विशोधन करता है।

सम्यग्दर्शन मार्ग है और ज्ञानादि गुण उसका फल है। प्रायश्चित्त से यह मार्ग और उसके फल की विशुद्धि होती है। मगर यहा प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान से दर्शन होता है या दर्शन से ज्ञान होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय से तो दर्शन से ज्ञान होता है परन्तु व्यवहार मे ज्ञान से दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। यहा निश्चय-नय को दृष्टिगोचर रखकर कहा गया है कि दर्शन मार्ग है और ज्ञान उसना फल है, क्योकि दर्शन से रहित ज्ञान प्रमाण नही माना जाता। जिस ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन हो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, अन्यथा वह अज्ञान है।

भगवान् के दिये हुए उत्तर मे ऐसा पाठ आया है कि—

'आयार च आयारफलं च आराहेइ।'

अर्थात् जीव आचार और उसके फल का भी आराधक बनता है। आचार अर्थात् सयम का फल मोक्ष है।

इस प्रकार भावप्रायश्चित्त करने वाला दर्शन की भी विशुद्धि करता है, ज्ञान की भी विशुद्धि करता है और आचार तथा उसके फल मोक्ष का भी आराधक बनता है।

प्रायश्चित्त शब्द इतना व्यापक है कि उसे समस्त दर्शनकारो ने स्वीकार किया है। जैनशास्त्रो के अनुसार प्रायश्चित्त से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि होती है। श्री स्थानागसूत्र मे, तीसरे स्थानक मे प्रायश्चित्त के तीन भेद, आठवे स्थानक मे आठ भेद, नौवे स्थानक मे नौ भेद और दसवें स्थानक मे दस भेद बतलाये है। इन सब का सार यही है कि प्रायश्चित्त करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अत प्रायश्चित्त करना चाहिए। अन्य दार्शनिको ने भी प्रायश्चित्त को स्वीकार किया है, पर जैनशास्त्र कहते है कि प्रायश्चित्त द्वारा पाप का विशोधन करो। पाप के सन्ताप से बचते रहने की इच्छा करना और पाप का त्याग न करना प्रायश्चित्त नही है। पाप के परिणाम मे अर्थात् पाप के दण्ड से घबराने की आवश्यकता नही, वरन् पाप से भयभीत होना चाहिए।

कितनेक दर्शनकार कहते है पाप तो होता ही रहता है। पाप से बचना शक्य नही है, अत. पाप के परिणाम से बचने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहिए। मगर जैनदर्शन कहता है कि पाप के फल से बचने का प्रयत्न नही करना चाहिए। अन्य दर्शनकारो का कथन और उसकी असगतता, आजकल के युगप्रवर्त्तक माने जाने वाले गांधीजी की आत्मकथा का उदाहरण देकर बतलाता हू।

गांधीजी जब विलायत जा रहे थे तब राजकोट मे उन्होने अपनी माता के आग्रह से अपने सम्प्रदाय के वेचरजी

स्वामी नामक जैन–साधु के समक्ष मदिरा, मांस और पर-स्त्री का त्याग किया था। इस त्याग के प्रभाव से गाधीजी विलायत मे मदिरा आदि अपवित्र वस्तुओ के सेवन के पाप से बच सके थे। विलायत से भारत लौटने के पश्चात् वह फिर दक्षिण अफ्रिका गये थे। वहाँ का अनुभव लिखते हुए गाधीजी कहते हैं—

कोट्स नामक ईसाई ने ईसाई धर्म के विषय में मुझ से बहुत तर्क–वितर्क किया और मैंने भी उसके सामने बहुतेरी दलीलें दी। मगर मेरी दलीलें उसकी समझ मे नही आई, क्योकि उसे मेरे धर्म पर अश्रद्धा ही थी। वह तो उलटा मुझे ही अज्ञान-कूप से बाहर निकालना चाहता था! उसका कहना था कि दूसरे धर्मों मे भले ही थोडा–बहुत सत्य हो मगर पूर्ण सत्य-स्वरूप ईसाई धर्म स्वीकार किये बिना तुम्हे मुक्ति नही मिल सकती! ईसु की कृपादृष्टि के यिना पाप धुल नही सकते और तमाम पुण्यकार्य निरर्थक हो जाते है! जब मैं कोट्स की दलीलो से प्रभावित न हुआ तो मेरा परिचय ऐसे ईसाइयो के साथ कराया गया जिन्हे वह अधिक धर्मचुस्त समझता था। जिनके साथ उसने मेरा परिचय कराया, उनमें एक प्लीमथ ब्रदरन का कुटुम्ब था। प्लीमथ ब्रदरन नामक एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्स ने कुछ ऐसे परिचय कराये जो मुझे बहुत अच्छे लगे। उनके परिचय से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग ईश्वर से डरते थे; मगर इस परिवार ने मेरे सामने यह दलील रखी कि तुम हमारे धर्म की खूबी समझ नही सकते। तुम्हारे कहने से हम जान सकते हैं कि तुम्हे क्षण-क्षण अपनी भूल का विचार करना पडता है और सुधार करना पडता है। अगर भूल

न सुधरे तो तुम्हें पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करना पडता है। इस क्रियाकाड से तुम कब छुटकारा पाओगे और कब तुम्हे शाति मिल सकेगी ! हम सब पापी है, यह तो तुम मानते ही हो। अब हमारी मान्यता देखो, वह कितनी परिपूर्ण है! हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी आखिर मुक्ति, तो हमे चाहिए ही। हम पप का बोझ कैसे उठा सकते हैं। इसलिए हम उस पाप का बोझ ईसु पर लाद देते हैं। ईसु ईश्वर का एकमात्र निष्पाप पुत्र है। ईसु को ईश्वर का वरदान है। जो ईसु को मानता है, उसका पाप ईश्वर धो डालता है। यह ईश्वर की अगाध उदारता है। ईसु की मुक्ति सम्बन्धी योजना हमने स्वीकार की है, अतएव हमे हमारे पाप लगते ही नही हैं। पाप तो होता ही है। इस जगत् में पाप किये बिना रह ही किस प्रकार सकते हैं? अतएव ईसु ने सारे ससार के पाप एक ही बार प्रायश्चित्त करके धो डाले हैं। ईसु के इस महा बलिदान को जो लोग स्वीकार करते हैं, वे उस पर विश्वास करके शाति-लाभ कर सकते हैं। कहा तुम्हारी अशाति और कहाँ हमारी शान्ति !

यह दलील मेरे गले न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उन्हे उत्तर दिया—'अगर सर्वमान्य ईसाईधर्म यही है तो मुझे वह नही चाहिए। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नही चाहता, मैं पापवृत्ति से और पापकर्म से मुक्त होना चाहता हू।'

गाधीजी ने अपनी आत्मकथा मे इस आशय का उल्लेख किया है। इस उल्लेख का सरल अर्थ यह है कि गाधीजी कहते थे कि पाप के परिणाम से नही बचना चाहिए वरन् पापवृत्ति से बचना चाहिए। पापवृत्ति से बचकर ही मुक्ति

प्राप्त की जा सकती है। तब उनके ईसाई मित्रो का कहना था कि पाप का सारा वोझ ईसु पर ही डाल देना चाहिए। ईसु पर विश्वास रखने से वह हमारे समस्त पाप धो डालता है। गाँधीजी ने इस दलील के उत्तर मे कहा था कि पाप तो करना मगर उसका दड न भोगना, यह उचित कैसे कहा जा सकता है? मै तो पाप के दड से नही बचना चाहता। मै पापवृत्ति से ही बचना चाहता हू।

इस प्रकार दूसरे लोग पाप से बचने के बदले पाप के फल से वचना चाहते हैं, परन्तु जैनधर्म कहता है कि पाप के परिणाम से बचने की कामना मत करो, पाप से ही वचने की इच्छा करो और उसके लिए प्रायश्चित्त करो।

नरक मे भी दो प्रकार के जीव है- सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दृष्टि पाप को बुरा समझते है, नरक को नही। मगर मिथ्यादृष्टि नरक को बुरा समझ कर गालियां देते हैं। सम्यग्दृष्टि पाप को वुरा समझता है और पाप को नष्ट करने के लिए प्रायश्चित्त करता है, मगर मिथ्यादृष्टि नरक को खराब समझता है और उसे गालिया देकर और अधिक पापकर्म उपार्जन करता है। जैनशास्त्र का आदेश है कि पाप से वचो, पाप के परिणाम से बचने की इच्छा मत करो।

इस कथन को दृष्टि मे रखकर तुम अपने कर्त्तव्य का विचार करो। इस कथन का सार यही है कि पापवृत्ति से बचते रहना चाहिए, फिर भी कदाचित् पाप हो जाये तो उसके फल से वचने की कामना नही करनी चाहिए वरन् फल भोगने के लिए तैयार रहना चाहिए। मानना चाहिए कि मैं जो दुख भोग रहा हू वह मेरे ही पाप का परिणाम

है, चाहे वह फल इसी जन्म के पाप का हो अथवा किसी और जन्म का हो। श्री भगवतीसूत्र मे इस सबन्ध में प्रश्न पूछा गया है–

'से नूनं भते ! सकडा कम्मं वेदयंति, परकडा वेदयंति ?

अर्थात् -हे भगवन् ! जीव अपने किये कर्मों से दुःख पाते है या दूसरो के किये कर्मो से दुःख पाते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—

गोयमा ! सकडा कम्मं वेदयंति, नो परकडा ।

अर्थात् हे गौतम ! जीव अपने कर्मों को ही भोगता है, दूसरो के किये कर्म को नही भोगता ।

यद्यपि भगवान् ने ऐसा कहा है लेकिन आजकल तो यह देखा जाता है कि अगर कोई खभे से टकराता है तो वह खभे को ही दोष देने लगता है, मगर अपनी असावधानी का खयाल नही करता । इसी प्रकार अज्ञानी अपने पाप-कर्मो की ओर नजर नही डालते बल्कि दूसरो को दोष देने को तैयार रहते है ! इससे विरुद्ध ज्ञानीजन अपने ही पापों को देखते हैं और उनका प्रायश्चित करते हैं । तुम भी अपने पापो को देखो और उनका प्रायश्चित्त करो तो तुम्हारा कल्याण होगा ।

रहेगा वह जीव कहलाता है। और जो अपनी ही सत्ता से जीवित है उसे 'सत्व' कहते हैं। प्राणी शब्द से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवो का बोध होता है। भूत शब्द से वनस्पति आदि का बोध होता है। सत्व शब्द से पृथ्वी, पानी, वायु और अग्निकाय के जीवो का ग्रहण होता है। जीव शब्द से पचेन्द्रिय प्राणियो का ग्रहण होता है। भेद-विचार से इस प्रकार का बोध होता है।

भगवान् का कथन है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को खमाने वाला सभी जीवो के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न करता है।

अपनी परम्परा मे तो चौरासी लाख जीवयोनियों को खमाने की रीति प्रचलित है, मगर जहाँ विरोध उत्पन्न हुआ हो वहां क्षमा मागना ही सच्ची क्षमायाचना की कसौटी है। दूसरे के दिल को दु ख पहुचाया हो, हृदय में कलुषता उत्पन्न की हो, इसी प्रकार दूसरे की तरफ से अपने हृदय मे विरोध या कलुपता की उत्पत्ति हुई हो तो उस विरोध और कलुपता को क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा शान्त कर डालना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय अथवा द्वीन्द्रिय आदि जीवो की ओर से तुम्हे किसी प्रकार का सताप हुआ हो तो उसे भूल जाना चाहिए और हृदय में किसी भी प्रकार की कलुषता नही रहने देना चाहिए। अपना हृदय सर्वथा वैरहीन बना लेना ही क्षमापणा का उद्देश्य है विश्व के समस्त जीवो के प्रति निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री पनपाना एव विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श और उद्देश्य है। सब जीव तो खैर दूर रहे, किन्तु मनुष्यों

का ससर्ग विशेष रूप से रहता है और इस कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच कलुषता होना अधिक सभव है। अत. मनुष्यो के प्रति निर्वैरभाव प्रकट करने के लिए, सर्वप्रथम अपने घर के लोगो के साथ अगर कलुषता हुई हो या उनके द्वारा कलुषता हुई हो तो उसे हृदय से निकालकर क्षमा धारण करना चाहिए और इस प्रकार हृदय शुद्ध करके धीरे-धीरे विश्वमैत्री का अभ्यास करना चाहिए । इस तरह विश्व के जीवमात्र के प्रति क्षमा का आदान-प्रदान करने से चित्त मे प्रसन्नता होती है और चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है । अगर दूसरे की ओर से तुम्हारे हृदय को चोट पहुँची हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षमा देना चाहिए और यदि तुमने किसी का हृदय दु.खी किया हो तो तुम्हे नम्रतापूर्वक क्षमा मांगना चाहिए । यही सच्ची क्षमापणा है ।

तुम प्राय हमेशा ही क्षमापणा करते हो परन्तु सब से पहले यह देखो कि तुम्हारी क्षमापणा सच्ची है—हृदय-पूर्वक है अथवा केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही है ? देखना, कही ऐसा तो नही होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय मे तो भाई के साथ क्षमापणा का व्यवहार करो मगर उपाश्रय से बाहर निकलने के बाद भाई पर दावा किया हुआ मुकद्दमा चालू रखते होओ ? इस तरह बाहर से क्षमाभाव बतलाओ और भीतर-भीतर वैरभाव रखो तो वह सच्ची क्षमापणा नही है । सच्चे भाव से क्षमापणा की जाये तो आपसी झगडे आगे चालू नही रह सकते । सच्ची क्षमापणा करने वाला तो यही कहेगा कि अब तुम्हारे और मेरे बीच केस नही चल सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो हमारा

सत्तरहवां बोल

क्षमापणा

प्रायश्चित्त के विषय मे विचार किया जा चुका है। यहां क्षमापणा के सम्बन्ध मे विचार करना है। प्रायश्चित और क्षमापणा मे आपस में क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार कहते हैं कि—जब प्रायश्चित्त द्वारा पाप का छेदन कर डाला जाता है तब चित्त समतोल बन जाता है। चित्त की समतोल अवस्था होने पर यह विचार उत्पन्न होता है कि मैंने अमुक-अमुक का अपराध किया है और अमुक का अमुक प्रकार से दिल दुखाया है। अतएव मैं उससे क्षमायाचना करके निर्वैर बनूं। इस प्रकार विचार उत्पन्न होने से क्षमा मागने का निश्चय होता है। इसी कारण प्रायश्चित्त के पश्चात् क्षमापणा के विषय मे भगवान् से प्रश्न पूछा गया है।

मूलपाठ

प्रश्न—खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मेत्तीभावमुप्पाएइ, मेत्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— हे भगवन् ! क्षमा मांगने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— क्षमा मागने से चित्त में प्रसन्नता होती है और चित्त में प्रसन्नता होने से जीव जगत् के समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्व-इन चारो प्रकारो के जीवो मे मित्र-भाव उत्पन्न कर सकता है और मित्रभाव पाकर अपनी भावना विशुद्ध करके अन्त मे निर्भय बनता है।

व्याख्यान

सब से पहले यह विचारना चाहिए कि क्षमापणा का मतलब क्या है ? किसी के ऊपर द्वेष उत्पन्न हुआ हो, वैमनस्य हुआ हो या किसी का दिल दुखाया हो तो उस दु ख आदि को दूर करने के लिए और उसके चित्त को शान्ति पहुचाने के लिए जिस क्रिया का सहारा लिया जाता है, उस क्रिया को क्षमापणा कहते हैं। क्षमा वही दे सकता है और वही माग सकता है, जिसने प्रायश्चित्त द्वारा अपना मन शान्त कर लिया हो। इस प्रकार दूसरे के मन को जिसके द्वारा शाति पहुचाई जाती है, उसी क्षमापणा के विपय मे भगवान् से प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! क्षमापणा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—हे शिष्य ! क्षमापणा करने से प्राणी, भूत, जीव और सत्व के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न होती है।

प्राण धारण करने वाला प्राणी कहलाता है। जो भूतकाल मे भी था उसे 'भूत' कहते है। जो भूतकाल में जीवित था, वर्त्तमान मे जीवित है और भविष्य मे जीवित

रहेगा वह जीव कहलाता है। और जो अपनी ही सत्ता से जीवित है उसे 'सत्व' कहते हैं। प्राणी शब्द से दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवो का बोध होता है। भूत शब्द से वनस्पति आदि का बोध होता है। सत्व शब्द से पृथ्वी, पानी, वायु और अग्निकाय के जीवो का ग्रहण होता है। जीव शब्द से पचेन्द्रिय प्राणियो का ग्रहण होता है। भेद-विचार से इस प्रकार का बोध होता है।

भगवान् का कथन है कि प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व को खमाने वाला सभी जीवो के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न करता है।

अपनी परम्परा में तो चौरासी लाख जीवयोनियो को खमाने की रीति प्रचलित है, मगर जहाँ विरोध उत्पन्न हुआ हो वहां क्षमा मागना ही सच्ची क्षमायाचना की कसौटी है। दूसरे के दिल को दुःख पहुचाया हो, हृदय में कलुषता उत्पन्न की हो, इसी प्रकार दूसरे की तरफ से अपने हृदय मे विरोध या कलुपता की उत्पत्ति हुई हो तो उस विरोध और कलुपता को क्षमा के आदान-प्रदान द्वारा शान्त कर डालना ही सच्ची क्षमापणा है। एकेन्द्रिय अथवा द्वीन्द्रिय आदि जीवो की ओर से तुम्हे किसी प्रकार का सताप हुआ हो तो उसे भूल जाना चाहिए और हृदय मे किसी भी प्रकार की कलुपता नही रहने देना चाहिए। अपना हृदय सर्वथा वैरहीन बना लेना ही क्षमापणा का उद्देश्य है विश्व के समस्त जीवो के प्रति निर्वैरभाव रखना और विश्वमैत्री पनपाना एव विकसित करना क्षमापणा का महान् आदर्श और उद्देश्य है। सब जीव तो खैर दूर रहे, किन्तु मनुष्यों

का ससर्ग विशेष रूप से रहता है और इस कारण मनुष्य-मनुष्य के वीच कलुषता होना अधिक सभव है। अतः मनुष्यो के प्रति निर्वैरभाव प्रकट करने के लिए, सर्वप्रथम अपने घर के लोगो के साथ अगर कलुषता हुई हो या उनके द्वारा कलुषता हुई हो तो उसे हृदय से निकालकर क्षमा धारण करना चाहिए और इस प्रकार हृदय शुद्ध करके धीरे-धीरे विश्वमैत्री का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह विश्व के जीवमात्र के प्रति क्षमा का आदान-प्रदान करने से चित्त मे प्रसन्नता होती है और चित्त की प्रसन्नता से भाव की विशुद्धि होती है। अगर दूसरे की ओर से तुम्हारे हृदय को चोट पहुँची हो तो उसे उदारतापूर्वक क्षमा देना चाहिए और यदि तुमने किसी का हृदय दु.खी किया हो तो तुम्हे नम्रतापूर्वक क्षमा माँगना चाहिए। यही सच्ची क्षमापणा है।

तुम प्राय हमेशा ही क्षमापणा करते हो परन्तु सब से पहले यह देखो कि तुम्हारी क्षमापणा सच्ची है—हृदय-पूर्वक है अथवा केवल प्रथा का पालन करने के लिए ही है? देखना, कही ऐसा तो नही होता कि प्रतिक्रमण करके उपाश्रय मे तो भाई के साथ क्षमापणा का व्यवहार करो मगर उपाश्रय से बाहर निकलने के वाद भाई पर दावा किया हुआ मुकद्दमा चालू रखते होओ? इस तरह वाहर से क्षमाभाव बतलाओ और भीतर-भीतर वैरभाव रखो तो वह सच्ची क्षमापणा नही है। सच्चे भाव से क्षमापणा की जाये तो आपसी झगडे आगे चालू नही रह सकते। सच्ची क्षमापणा करने वाला तो यही कहेगा कि अब तुम्हारे और मेरे बीच केस नही चल सकता। तुम्हारी इच्छा हो तो हमारा

देना दे जाना, नही तो तुम्हारी इच्छा ! तुम्हारे प्रति अब मेरे अन्त:करण मे किसी प्रकार का वैरभाव नही है । अब तुम्हारे ऊपर मेरा मैत्रीभाव है । सच्चा सम्यग्दृष्टि ऐसी क्षमापणा करता है ।

तुम गृहस्थ ठहरे । तुम्हारी आपस में खटपट हो जाना स्वाभाविक है । मगर कभी-कभी हम साधुओ मे भी खटपट हो जाती है। जहा दो चूडियाँ होगी, आवाज होगी ही । इस कथन के अनुसार साधुओ में भी परस्पर खटपट हो जाती है । मगर साधुओ के लिए शास्त्र कहता है कि अगर किसी के साथ तुम्हारी खटपट हो गई हो तो जब तक उससे क्षमा न माँग लो तब तक दूसरा काम मत करो। इसके लिए शास्त्र मे कहा है—

भिक्खाय अहिगरणं कट्टु अवि ओस्मिता(?)नो से कप्पई गाहावई कुलं भत्ताय पाणाय वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा बहिया विहारभूमि वा अविहारभूमि वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि अगर साधुओ मे आपस मे अनबन हो गई हो तो, हे साधुओ ! पहले उस अनबन को दूर कर क्षमापणा करो । जहा तक तुम अपना अपराध क्षमा न करवा लो तहा तक किसी के घर आहार पानी लेते न जाओ, शौचादि मत जाओ और न स्वाध्याय भी करो ।

इस प्रकार शास्त्र की आज्ञा है कि अगर साधुओ मे आपस में किसी तरह की अनबन हो गई हो तो उसी समय खमा लेना चाहिए । जब तक साधु क्षमापणा न करले तब

तक वह आहार-पानी के लिए कही नही जा सकते, इतना ही नही, पर स्वाध्याय भी नही कर सकते । शौच जाना आवश्यक माना गया है लेकिन क्षमापणा किये बिना साधु शौच भी नही जा सकते । सब से पहले अपने आत्मा में दूसरों की तरफ से असमाधि उत्पन्न हुई हो उसे दूर करो फिर भले ही दूसरा काम करो । जब तक असमाधि दूर न हो, दूसरा कोई काम मत करो ।

तुम्हारे घर में आग लगी हो तो पहले आग बुझाने का प्रयत्न करोगे या कहोगे कि पहले भोजन कर लें और फिर आग बुझाते रहेगे ? तुम तत्काल सब काम छोड़कर पहले आग बुझाने का ही प्रयत्न करोगे । इसी प्रकार शास्त्र कहता है हे साधुओ ! तुम्हारे अन्त.करण मे जो भाव-अग्नि लग रही है, उसे सब से पहले शान्त करो । उसके बाद दूसरे काम करो ।

कदाचित् कोई कहे कि मैं तो अमुक को खमाता हू पर वह मुझे क्षमा नही देता, ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है—

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विवसमित्ता विओसइयपाहुडे इच्छा य परो आढाइज्जा इच्छा य परो न आढाइज्जा, इच्छा य परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छा य परो न अब्भुट्ठेज्जा, इच्छा य परो वंदेज्जा, इच्छा य परो न वंदेज्जा इच्छा य परो संभुंज्जेज्जा, इच्छा य परो न संभुंज्जेज्जा, इच्छा य परो संवसिज्जा, इच्छा य परो न संवसिज्जा, इच्छा य परो उवसमिज्जा, इच्छा य परो न उवसमिज्जा । जो उवसम्मइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसम्मइ नत्थि तस्स

आराहणा । तम्हा अप्पणा चेव उवसम्मिएव्वं, स किमाहु भंते ! उवसमं उवसमसारं सामण्णं ।

— बृहत्कल्पसूत्र ।

इस सूत्रपाठ का भावार्थ यह है कि जिसके साथ तुम्हारी अनबन या बोलचाल हो गई हो, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारा आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हे वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो साथ भोजन न करे, उसकी इच्छा हो तो तुम्हारे साथ रहे, इच्छा न हो तो साथ न रहे, उसकी इच्छा हो तो उपशात हो जाये, इच्छा न हो तो उपशान्त न हो । तुम उसके इन कृत्यो को मत देखो, अपनी ओर से क्षमायाचना कर लो। तुम तो अपनी ओर ही देखो। दूसरा खमाता है या नही, यह देखने की आवश्यकता नही । तुम तो अपने अपराध के लिए क्षमा माग लो और उसके अपराध के लिए अपनी ओर से क्षमा कर दो । वह तुम्हारा अपराध क्षमा करे या न करे, तुमसे क्षमायाचना करे या न करे, मगर तुम अपनी ओर से तो क्षमा मांग ही लो और क्षमा दे भी दो ।

यह कथन सुनकर शिष्य ने भगवान् से पूछा— भगवन् ! ऐसा किसलिए करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा— श्रमणता का सार उपशान्त होना है, अत तुम उपशान्त हो जाओ ।

शास्त्र में यह कहकर साथ ही यह भी कहा है कि तुम उसे खमाओ और वह तुम्हे न खमावे तो तुम उसकी निन्दा

मत करो। अगर तुम उसे खमाकर उसकी निन्दा करते हो तो समझना चाहिए कि तुमने सच्चे रूप मे खमाया ही नही है। वह नहीं खमाता तो उसके कर्म भारी होगे, मगर तुम तो अपनी ओर से क्षमापणा करके उपशान्त हो जाओ। अगर तुम हृदयपूर्वक दूसरे से खमाते हो तो तुम आराधक ही हो।

कहने का आशय यह कि कोई दूसरा खमावे या न खमावे लेकिन तुम तो दूसरे को खमा ही लो। अगर तुम दूसरे को खमा लेते हो तो तुम अपने हृदय की कलुषता दूर करते हो। जिसके चित्त की कलुषता दूर हो जाती है उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है योगसूत्र मे कहा है—

'भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

अर्थात्—भावना से चित्त को प्रसन्नता प्राप्त होती है। चित्त को प्रसन्न करने वाली भावनाएँ चार है—करुणाभावना, मध्यस्थभावना, प्रमोदभावना और मैत्रीभावना। क्षमापणा करने से मैत्रीभावता प्रकट होती है। दूसरे के साथ वैरविरोध या क्लेश-ककास हो गया हो तो उससे क्षमा का आदान-प्रदान करके हृदय मे मैत्रीभावना प्रकट करनी चाहिए। ऊपर-ऊपर से क्षमापणा की जाये तो वह सच्ची मैत्रीभावना नही है।

भगवान् कहते हैं—क्षमापणा करने से हृदय का पश्चात्ताप और क्लेश-कलह मिट जाता है तथा हृदय मे प्रसन्नता एव प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार क्षमापणा द्वारा प्रसन्नता और मैत्रीभावना प्रकट हो जाने के फलस्वरूप किसी प्रकार का भय नही रह जाता अर्थात् निर्भयता प्राप्त होती है।

भगवान् ने क्षमापणा का यह फल वतलाया है। मगर इस फल की प्राप्ति उन्हे होती है जो सच्चे हृदय से क्षमा-याचना करते है और क्षमादान करते हैं। केवल प्रथा का पालन करने के लिए क्षमा मागना और देना एक वात है और हृदय से क्षमा का आदान-प्रदान करना दूसरी वात है। किस प्रकार हृदय से क्षमायाचना की जाती हैं और दी जाती है, इस विषय मे एक प्रसिद्ध उदाहरण देना उपयोगी होगा।

सोलह देशो के महाराजा उदायन की स्वर्णगुटिका नामक दासी को उज्जैन का राजा चडप्रद्योत चुरा ले गया। दासी चुराई गई है, यह वात उदायन के कानो मे पडी, फिर भी श्रावक होने के कारण उसने चडप्रद्योत को सहसा दंड देने की व्यवस्था नही की। उसने दासी को लौटा देने का सन्देश चडप्रद्योत के पास भेजा। उदायन के इस सदेश के उत्तर मे अभिमान से भरे चडप्रद्योत ने कहला भेजा— 'हम राजा है। रत्नभोक्ता हैं। श्रेष्ठ रत्न प्राप्त करके भोगने का हमे अधिकार है। दासीरत्न को हम अपने बल-बूते पर ले आये हं। क्षत्रिय किसी चीज की याचना करना नही जानते। हम अपनी शक्ति के भरोसे दासीरत्न लाये हैं और उसे लौटा नही सकते। अगर उदायन राजा मे शक्ति हो तो वह अपनी दासी को वापिस ले जावे। मागने से दासी नही मिल सकेगी।'

चडप्रद्योत ने अपने सैन्य बल के अभिमान मे मस्त होकर यह उत्तर दिया! उदायन ने चडप्रद्योत का यह उत्तर सुनकर कहा—'चोरी करना क्षत्रियों का धर्म है! और मागना क्षत्रियो का धर्म नही है! उसने मुझे कायर

समझा होगा, मगर देखता हू वह दासी को कैसे नही सौपता !' यह कहकर उदायन ने चडप्रद्योत के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया ।

अपने निश्चय के अनुसार उदायन राजा ने उज्जैन पर चढाई कर दी और उज्जैन पर विजय प्राप्त करके चडप्रद्योत को कैद कर लिया । उदायन राजा विजय प्राप्त करके अपने देश की ओर लौट रहा था कि सवत्सरी पर्व निकट आने पर उसकी आराधना करने के लिए दशार्णपुर—वर्तमान मन्दसौर नगर मे ठहर गया । उदायन ने अपनी सेना से कहा—'कल मेरा महापर्व है। मैं उस पर्व मे आराधना करूँगा और प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव धारण करूँगा। अतएव इस बात का खयाल रखना कि कल किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचे ।' सेना से यह कहकर उसने अपने रसोइया को बुलाया और चडप्रद्योत की ओर सकेत करके कहा 'यद्यपि इस समय यह मेरे कब्जे मे हैं, फिर भी राजा है । अत. कल इनको इच्छा के अनुसार भोजन की व्यवस्था करना और ध्यान रखना कि इन्हे किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए । मै कल सवत्सरी-पर्व की आराधना करूँगा ।'

चडप्रद्योत को पता था कि उदायन राजा सवत्सरी के दिन सब जीवो के प्रति मैत्रीभाव धारण करके, सबसे क्षमायाचना करते हैं और उदारभाव से क्षमादान देते हैं । उसने सोचा—बस, कल का दिन ही मेरे लिए बन्धन से मुक्त होने के लिए उपयुक्त है । इस प्रकार विचारकर चडप्रद्योत ने उदायन से कहा—'कल मैं भी आपके साथ सवत्सरी महापर्व की आराधना करूगा और आपके साथ ही

पौपध करूँगा ।' उदायन ने कहा--'आपने पहले कभी पौषध नही किया है, अत कष्ट होगा । बलात्कार से किसी से धर्म करवाना धर्म नही कहा जा सकता । इसलिए पौषध करने के विषय मे अच्छी तरह विचार करलो ।' चडप्रद्योत बोला— आप पौषध करेगे और मैं नही कर सकूगा ? नही, मैं भी आपके साथ पौषध करूँगा ।' उदायन ने कहा- 'तो जैसी आपकी इच्छा ।'

उदायन और चडप्रद्योत ने एक ही जगह और एक ही विधि से पौषध व्रत अगीकार किया, मगर दोनो के भाव जुदा-जुदा थे । सध्या समय उदायन ने प्रतिक्रमण किया और समस्त जीवो से क्षमायाचना की ।' चडप्रद्योत ने भी इसी प्रकार किया । जब उदायन ने सब जीवो के प्रति क्षमा-याचना की तब चडप्रद्योत पास ही था । उदायन ने उससे कहा—'ससार बहुत विषम है और यहा साधारण बात में भी क्लेश हो जाता है । तुम्हारे साथ जो युद्ध हुआ वह भी साधारण सी बात के लिए ही था । मैं हृदय से चाहता था कि किसी प्रकार युद्ध टल जाये, लेकिन तुमने जो उत्तर दिया, उसने राजकर्तव्य की रक्षा के लिए मुझे युद्ध करने के लिए विवश कर दिया मेरे लिए क्षत्रियधर्म और राज-नीति का पालन करना आवश्यक था और इसी कारण तुम्हारे साथ युद्ध करना पडा और तुम्हे कष्ट देना पडा । ससार सम्बन्धी प्रपच के कारण ही तुम्हे कष्ट देना पडा, लेकिन उस कष्ट के लिए अब मैं क्षमायाचना करता हू ।'

अगर अपराध था तो चडप्रद्योत का ही था, फिर भी उदायन ने उसके लिए क्षमा मागी । जैनधर्म कहता है- तू अपना अपराध देख, दूसरो का मत देख । अगर तू

दूसरो का अपराध देखेगा तो दूसरो से क्षमा नही माग सकेगा और न उन्हे क्षमा दे ही सकेगा । इसलिए तू अपने ही अपराधो की ओर दृष्टिपात कर और उनके लिए क्षमाप्रार्थी बन । चडप्रद्योत ने उदायन का कितना अपराध किया था? किसी ने तुम्हारा भी अपराध किया होगा परन्तु वह चंडप्रद्योत जैसा शायद ही हो ! फिर क्या तुम सामान्य अपराध के लिए भी क्षमा नही कर सकते ? तुम दूसरो के अपराध न देखकर अपने ही अपराध देखो और सब से क्षमायाचना करके प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव स्थापित करो ।

उदायन ने कहा—मैंने आपको कैद किया और आपका राजपालट छीन लिया है, इस अपराध के लिए मुझे क्षमा दीजिए ।'

इसे कहते हैं क्षमापणा ! इस प्रकार की सच्ची क्षमापणा ही हृदय को प्रसन्नता प्रदान करती है। उदायन के मन मे यह अभिमान आना स्वाभाविक था कि मैं मालव-नरेश को जीत कर कैद कर लाया हूं । मगर नही, उसने यह अभिमान नही किया, यही नही वरन् अपनी इस विजय को पश्चात्ताप का कारण बनाया ।

चडप्रद्योत को पहले ही मालूम हो गया था कि सवत्सरी का दिन ही इस बन्धन से मुक्त होने का स्वर्ण अवसर है । अतएव उसने उदायन के कथन के उत्तर मे कहा—'महाराज ! इस प्रकार क्षमायाचना करने से मुझे किस प्रकार शान्ति मिल सकती है ? आखिर तो मैं भी क्षत्रिय राजा हू । इस समय मैं राजपद से भ्रष्ट होकर कैदीजीवन व्यतीत कर रहा हू । इस स्थिति मे मेरे हृदय मे कैसे भाव उठते होंगे ? पदभ्रष्ट राजा कैद करने वाले को किस प्रकार

क्षमा कर सकता है ? उसका हृदय तो संताप से धधकता रहता है । फिर भी ऊपर से क्षमा करना तो एक प्रकार का दभ ही कहा जा सकता है । मैं इस प्रकार का दम्भ नही करना चाहता ।'

चडप्रद्योत की इस वात पर उदायन को क्रोध आ सकता था, मगर उदायन ने अपने मन में सोचा— इसका कहना तो ठीक है । उसने चडप्रद्योत से कहा –' मैं तुम्हारा अभिप्राय समझता हू । वास्तव में तुम अपने पद से भ्रष्ट हो गये हो और इस समय मेरी कैद मे हो, अतएव तुम्हारे हृदय मे शान्ति कैसे हो सकती है ? इस समय तो मैं कुछ नही कर सकता, लेकिन विश्वास दिलाता हू कि जो कुछ मैने तुम से जीत लिया है, वह सब तुम्हे लौटा दूंगा और कुछ अधिक भी दे दूंगा । इतना ही नही वरन् तुम्हे पहले की तरह सम्मान भी दूंगा । लो अब तो मेरा अपराध क्षमा करोगे न ?

उदायन की यह उदारता देखकर चडप्रद्योत की आखो में आसू आ गये । वह अपने मन मे कहने लगा—' कितनी उदारता है !' वस्तुत: उदायन की इस प्रकार की उदारता का महत्व चडप्रद्योत ने ही समझा था । उस समय उदायन, चडप्रद्योत को कितना प्रिय लगा होगा, यह तो चडप्रद्योत ही जाने । सीता को राम और दमयन्ती को नल कितने प्यारे लगते थे, सो सीता और दमयती को छोड और कौन अनुमान कर सकता है ।

उदायन इस प्रकार की उदारता प्रदर्शित करके निर्भय हो गया । लोग समझते है कि जो विजयी होता है वह निर्भय बन जाता है और पराजित होने वाला भयग्रस्त रहता

है। पर वास्तविकता ऐसी नही है । विजयी, पराजित से अधिक भयभीत रहता है, क्योकि उसके मन में सदैव यह शका वनी रहती है कि पराजित शत्रु कही वलवान् होकर वैर भँजाने के लिए चढाई न कर दे !

मान लीजिए, एक राजा ने किसी मनुष्य को कैद कर लिया। अव विचार कीजिए, भय किसे अधिक है ? राजा को या कैदी को ? राजा सदैव भयभीत रहता है कि कैदी कही छूट न जाये और वैर का वदला न ले वैठे ! इस प्रकार कैदी की अपेक्षा कैद करने वाले को अपेक्षाकृत अधिक भय वना रहता है ।

तुम धनवान् हो और हमारे पास धन नहीं है। विचार करो भय किसे ज्यादा है ? तुम्हे भय है या हमें ? धन होने के कारण तुम दिन-रात भय से व्याकुल रहते हो। भयजनक धन का त्याग करने पर ही तुम निर्भय वन सकते हो ।

चडप्रद्योत को आश्वासन देकर उदायन निर्भय हुआ। उदायन की यह उदारता देख चडप्रद्योत की आखो से आसू वहने लगे। उसने कहा - मैंने आपका अपराध किया और उस पर भी उद्दण्डतापूर्वक उत्तर दिया। इसी कारण आपको इतना कष्ट सहन करना पडा, फिर भी आपकी उदारता धन्य है ! आपकी इस उदारता से मैं इतना प्रभावित हू कि अव अगर आप मुझे कुछ भी न लौटाए तो भी मेरे हृदय मे आपके प्रति वैरविरोध नही है।

सवत्सरी के दूसरे दिन उदायन ने चडप्रद्योत को मुक्त करते हुए कहा—यह सवत्सरी महापर्व का ही प्रताप है कि

तुम मेरे हृदय को पहचान सके और मैं तुम्हारे हृदय को परख सका। संवत्सरी पर्व का सुअवसर न आया होता तो हम लोग एक-दूसरे के हृदय को न जान पाते।

चंडप्रद्योत को साथ लेकर उदायन अपने राज्य मे आया। वहा उसने अपनी कन्या उसे व्याह दी। उसने कन्यादान मे जीता हुआ और कुछ अपना राज्य चडप्रद्योत को दे दिया तथा वह सुवर्णगुटका दासी भी दे दी।

इसे कहते हैं क्षमापणा। क्षमा के आगे किसी भी प्रकार का वैर-विरोध या क्लेश-कलह नही ठहर सकता। तुम क्षमापणा तो करते हो, मगर जिसके साथ क्षमापणा करते हो, उसके प्रति वैरभाव तो अवशेष नही रहने देते? हृदय से की हुई क्षमापणा के सामने वैर-विरोध कैसे टिक सकता है? भगवान् कहते हैं सच्ची क्षमापणा करने वाला ही मेरा आराधक है। अतएव सच्चे आराधक बनने के लिए सच्ची क्षमापणा करो। सच्चे हृदय से क्षमापणा करोगे तो तुम्हारा कल्याण हुए विना नही रहेगा।

अठारहवाँ बोल

स्वाध्याय

स्व-पर के कल्याण-साधन के लिए शास्त्र मे अनेक उपाय बतलाये है । क्षमापणा भी उनमे से एक उपाय है। पिछले प्रकरण मे उस पर विचार किया गया है । अब स्वाध्याय को कल्याण का सोपान गिन कर उस पर विचार किया जाता है स्याध्याय के सम्बन्ध मे भगवान् से इस प्रकार प्रश्न पूछा गया है—

मूलपाठ

प्रश्न— सज्झाएणं भंते! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— सज्झाएण नाणावरणिज्जं कम्म खवेइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! स्वाध्याय करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— स्वाध्याय करने मे जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का क्षय करता है ।

व्याख्यान

स्वाध्याय पर विचार करने से पहले यह जान लेना

आवश्यक है कि क्षमापणा और स्वाध्याय के वीच परस्पर क्या सम्बन्ध है ? स्वाध्याय और क्षमापणा का सबन्ध वतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि स्वाध्याय करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है चित्त के विकार दूर करने की। लोक मे कहावत है कि प्रत्येक शुभ कर्म मे स्वच्छ होकर प्रवृत्त होना चाहिए । अतएव शुद्ध होकर स्वाध्याय करना उचित है, मगर वह शुद्धता बाह्य नही आन्तरिक भी होनी चाहिए । ससार मे वाह्य स्वच्छता देखी जाती है, आन्तरिक स्वच्छता उतनी नजर नही आती । मगर वास्तव मे आन्तरिक स्वच्छता की बड़ी आवश्यकता है। आन्तरिक स्वच्छता क्षमापणा द्वारा होती है । क्षमापणा आन्तरिक मैल को दूर कर, अन्तरग को स्वच्छ बनाने का सुन्दर से सुन्दर साधन है । क्षमापणा द्वारा आन्तरिक शुद्धि करने के पश्चात् निकम्मा नही बैठ रहना चाहिए, वरन् स्वाध्याय करना चाहिए । स्वाध्याय करने से क्या लाभ होता है ? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है। इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—हे शिष्य ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय आदि कर्मो का क्षय होता है ।

अब विचार करना है कि स्वाध्याय का अर्थ क्या है? सु+अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय स्वाध्याय कहलाता है । अध्याय का अर्थ है—पठन-पाठन । मगर पठन-पाठन तो कामशास्त्र आदि का भी हो सकता है । मगर यहा ऐसे पठन-पाठन का प्रकरण नही है । यह बात बतलाने के लिए 'अध्याय' शब्द के साथ 'सु' उपसर्ग लगाया गया है । 'सु' उपसर्ग का अर्थ सुष्ठु या श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ होता है—श्रेष्ठ पठन-पाठन । जैन शास्त्र के अनु-

सार वीतराग द्वारा कथित शास्त्र का, आगम का पठन-पाठन करना स्वाध्याय है। दूसरे द्वारा रचे ग्रन्थो या शास्त्रो का पठन-पाठन करने से कभी-कभी भ्रम मे पड़ जाने का अन्देशा रहता है, मगर वीतराग कथित आगम के पठन-पाठन से भ्रम मे पड़ने का कोई भय नही रहता। जिन-वाणी का अध्ययन करने से आत्मा का कल्याण ही होता है, अकल्याण नही हो सकता।

शास्त्रकारो ने स्वाध्याय के पाच भेद बतलाये हैं—(१) वाचना (२) पृच्छना (३) पर्यटना (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। स्वाध्याय के यह पाच भेद है। सूत्र जैसा है उसे वैसा ही पढना वाचना है, परन्तु यह सूत्रवाचना गुरुमुख से ही लेनी चाहिए। गुरुमुख से वाचना न ली जाये तो प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार गुरुमुख से ली जाने वाली वाचना स्वाध्याय का पहला भेद है।

स्वाध्याय का दूसरा भेद पृच्छना है। गुरुमुख से जो वाचना ली गई है, उसके विषय मे पूछताछ करना पृच्छना है। जैसे जानवर देखे-परखे बिना घास खा जाता है, उसी प्रकार देखे-परखे बिना सूत्र नही वाचना चाहिए। उसके विषय मे हृदय मे तर्क-वितर्क अथवा पूछताछ करना चाहिए। ऐसा करने से किसी को किसी प्रकार की शका ही नही रहेगी। हृदय मे उत्पन्न हुई शका को शका के ही रूप मे नही रहने देना चाहिए, वरन् उसे दूर करने के लिए पूछ-ताछ अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार की पूछताछ करने को ही पृच्छना कहते हैं।

जो वाचना गुरुमुख से ली गई है और जिसके विषय मे पृच्छना करके हृदय की शका दूर की गई है, उस सूत्र-

वाचना को विस्मृत न होने देने के लिए परिवर्तना करते रहना चाहिए । सूत्रवाचना का परावर्त्तन करना स्वाध्याय का तीसरा भेद है ।

स्वाध्याय का चौथा भेद अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षा का अर्थ तत्त्व का विचार करना है । सूत्रवाचना के विषय मे तात्त्विक विचार करना अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार सूत्रवाचना, पृच्छना, पर्यटना ओर अनुप्रेक्षा करने के बाद धर्मकथा करने का विधान किया गया है ।

धर्मकथा स्वाध्याय का पाचवा भेद है ।

स्वाध्याय का स्पष्ट अर्थ करते हुए टीकाकार कहते है—

यत् खलु वाचनादेरासेवनमत्र भवति विधिपूर्वम् ।
धर्मकथान्तं क्रमशः तत् स्वाध्यायो विनिर्दिष्टः ॥

अर्थात्— वाचना, पृच्छना से लेकर धर्मकथा पर्यन्त का विधिपूर्वक सेवन करना स्वाध्याय है ।

टीकाकार ने वाचना आदि के विधिपूर्वक सेवन को स्वाध्याय कहा है । तो फिर स्वाध्याय की विधि क्या है, यह भी जानना चाहिए । मगर अन्य ग्रन्थो मे स्वाध्याय का कैसा महत्व बतलाया गया है, यह जान लेना आवश्यक है। योगसूत्र मे स्वाध्याय का महत्व प्रकट करते हुए कहा है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

अर्थात्—स्वाध्याय से इष्ट देवता का सप्रयोग होता है । मूलसूत्र मे तो सिर्फ यही कहा गया है कि स्वाध्याय से इष्ट देवता की कृपा होती है, मगर भाष्यकार इससे भी आगे बढकर कहते है कि स्वाध्याय करने वाले मनुष्य का दर्शन करने के लिए देवता भी दौड़े आते है और इस बात

का ध्यान रखते हैं कि स्वाध्याय करने वाले की भावना किस प्रकार पूर्ण हो।

स्वाध्याय की विधि क्या है ? और किस उद्देश्य से स्वाध्याय करना चाहिए ? किसान खेत मे बीज फेंकता है सो केवल फेंक देने के उद्देश्य से ही वह नही फेंकता है। एक दाने के अनेक दाने उत्पन्न करने के लिए वह बीज फेंकता है । स्वाध्याय करने वाले को भी यह बात सदैव स्मरण मे रखनी चाहिए कि मैं स्वाध्याय करके हृदय-क्षेत्र में जिस बीज का आरोपण करता हू, वह विशेष रूप फल की प्राप्ति के लिए कर रहा हू । अतएव मैं जैसे-तैसे बोलते स्वाध्याय न करू वरन् स्वाध्याय के द्वारा जो बात ग्रहण की गई है, उसी के अनुसार व्यवहार करूं। इस प्रकार सक्रिय स्वाध्याय करने से ही स्वाध्याय के फल की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय का फल ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होना है।

स्वाध्याय के सम्बन्ध मे एक उदाहरण और दिया जाता है। जैसे फल की प्राप्ति के लिए ही वृक्ष की जड़ें, सीची जाती है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट करने रूप फल प्राप्त करने के लिए ही स्वाध्याय किया जाता है। अतएव स्वाध्याय करने मे सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि मैं वृक्ष को सीच तो रहा हू, मगर कही ऐसा न हो कि मैं फल से वचित रह जाऊ ! मैं दूसरो को सुनाने के लिए स्वाध्याय करू और लोग भी मेरी प्रशसा करें, मगर मैं जैसा का तैसा ही न रह जाऊं । मुझसे ऐसा न हो कि मूल को सीचने पर भी मुझे फल प्राप्त न हो । मुझे इस बात का ध्यान होना चाहिए कि मैं शास्त्र का स्वाध्याय करके जिस धर्मरूपी कल्पवृक्ष का सिचन कर रहा हू, उसका फल

ज्ञानावरण कर्म का क्षय होना है, अतएव वह फल मुझे प्राप्त करना है । इस बात पर लक्ष्य रखते हुए ही मुझे स्वाध्याय करना चाहिए ।

दर्पण के ऊपर का मैल इसीलिए साफ किया जाता है कि मुँह भलीभाँति दिखलाई दे सके। यह माना जाता है कि जिस दर्पण में मुह ठीकठीक दिखाई पड़े वह दर्पण साफ है । इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिस स्वाध्याय के द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हो, वही सच्चा स्वाध्याय है ।

प्राचीन काल मे विद्यार्थी जब विद्याध्ययन समाप्त करके गुरुकुल से विदाई लेते थे, तब गुरु उन्हे यह शिक्षा देते थे—'हे शिष्यो ! स्वाध्याय करने मे प्रमाद मत करना । स्वाध्याय द्वारा जो वस्तु हितकारी प्रतीत हो उसे स्वीकार करना और जो अहितकर प्रतीत हो उसे त्याग देना । स्वाध्याय से धर्म का भी स्वरूप विदित होता है और अधर्म का भी । इन दोनो मे से धर्म को स्वीकार करना और पाप का परित्याग करना चाहिए । दीपक के प्रकाश मे अच्छी वस्तु भी देखी जा सकती है और साँप-विच्छू वगैरह भी देखे जा सकते है । मगर अच्छी वस्तु देखकर ग्रहण की जाती है और खराब वस्तु देखकर छोड़ दी जाती है । दीपक के प्रकाश से अगर साँप दिखाई देता है तो लोग साँप से दूर भाग जाते है और यदि कोई अच्छी चीज नजर आती है तो उसे ग्रहण कर लेते हैं । इसी प्रकार स्वाध्याय से अच्छी बाते भी मालूम होती हैं और बुरी बाते भी जानने मे आती हैं । इन दोनो अच्छी-बुरी बातो मे से, हे शिष्यो! अच्छी बात ग्रहण करो और बुरी बाते त्याग दो ।"

आप भी व्याख्यान सुनते हैं, मगर व्याख्यान सुनकर जो वस्तु लाभप्रद प्रतीत हो उसे अपनाने में ही व्याख्यान सुनने की सार्थकता है और तभी व्याख्यानश्रवण स्वाध्याय रूप कहा जा सकता है। व्याख्यान सुनकर वाह-वाह करने मे ही रह गये और जीवन मे कुछ भी न अपनाया तो व्याख्यान सुनने से क्या लाभ है ?

कल्पना कीजिए, आपके पूर्वजो ने आपके घर में सम्पत्ति गाड़ रखी है। यह बात आपको मालूम है, लेकिन आवश्यकता के अवसर पर भी वह आपके हाथ नही लगती। इतने में कोई सिद्ध-योगी आकर आपकी सम्पत्ति आपको बतला दे तो आपको कितनी प्रसन्नता होगी ? इसी प्रकार इस शरीर मे अनन्त गुणो वाला आत्मा विराजमान है। अगर कोई इस आत्मा का दर्शन आपको करा दे तो क्या आपको प्रसन्नता नही होगी ? स्वाध्याय करने से ज्ञानावरण कर्म नष्ट होता है और ज्ञानावरण के नाश से आत्मा का दर्शन हो सकता है। अतएव स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करके आत्मा का दर्शन करो। ज्ञानीजन कहते हैं— आत्मा अनन्त गुण वाला और अनन्त शक्ति से सम्पन्न है। आत्मा के गुण इस मानव शरीर द्वारा ही प्रकट किये जा सकते हैं। आपको पुण्ययोग से मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, इसलिए आत्मा के उन गुणो को एव शक्तियो को प्रकट करने का प्रयत्न करो। केवल शरीर देखकर ही न रह जाओ। सुना है, अमेरिका मे, मनुष्य की आकृति की मछली भी होती है, मगर आप मनुष्य है, मछली नही हैं। यह बात तो तभी प्रतीत होगी जब आप अपने जीवन में मनुष्यता प्रकट करेगे। जीवन मे मनुष्यता प्रकट करने के

लिए और अपनी मनुष्यता सिद्ध करने के लिए आपको विचारना चाहिए कि—हे आत्मन् ! तुझे यह मानव शरीर मिला है और ऐसे धर्मगुरुओ का सुयोग भी प्राप्त हो गया है। फिर भी अगर अपनी शक्ति को प्रकट नही करेगा तो कब करेगा ? इस प्रकार विचार कर स्वाध्याय द्वारा ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट करके आत्मा का स्वरूप पहचानो और आत्मशक्ति प्रकट करो।

तपस्वी मुनि श्री रघुनाथ जी महाराज फक्कड साधु थे। वह एक बार जोधपुर मे थे, तब जोधपुर के सिघीजी ने उनकी प्रशसा सुनी और उनके दर्शन करने आये। रघुनाथजी महाराज ने सिघीजी से पूछा – आप कुछ धर्मध्यान करते हैं या नही ? सिघीजी ने उत्तर दिया—'महाराज ! पहले बहुत धर्मध्यान किया है, उसके फलस्वरूप सिघी सरीखे उत्तम कुल मे जन्म पाया है, पैर मे सोने का कडा पहरने को मिला है, जागीर मिली है, हवेली है और अच्छे कुल की कन्याए भी प्राप्त हुई हैं। ऐसी स्थिति मे पहले किये पुण्य का फल भोगें या अब नया करने बैठे।'

तपस्वीजी ने उत्तर दिया—सिघीजी, यह सब तो ठीक है कि आपने पहले जो धर्मध्यान किया है, उसका फल आप भोग रहे हैं। मगर यदि भविष्य के लिए धर्मध्यान न किया और मृत्यु के पश्चात् कुत्ते का जन्म धारण करना पडा तो आपको उस हवेली मे कौन घुसने देगा ?

सिघीजी—महाराज ! ऐसी अवस्था मे तो हवेली में कोई नही घुसने देगा ?

तपस्वीजी— इसीलिए हम कहते है, भविष्य के लिए धर्मध्यान करो ।

मैं भी आपसे यही कहता हू कि आपको उत्तम मनुष्य-जन्म, उत्तम जैनधर्म, उत्तम धर्मक्षेत्र आदि का सुयोग मिला है । इस अनमोल अवसर का लाभ उठाकर आत्मकल्याण साधो । इसी में कल्याण है। दूसरे आत्मकल्याण की साधना करे या न करें, उस पर ध्यान न देते हुए आप अपना कल्याण करने मे प्रयत्नशील रहे ।

कहने का आशय यह है कि स्वाध्याय का फल ज्ञाना-वरणीय कर्म का नाश करना है । कोई कह सकता है कि हमे शास्त्र वाचना नही आता, ऐसी स्थिति मे शास्त्र का स्वाध्याय किस प्रकार करें ? ऐसा कहने वाले लोगो से यही कहा जा सकता है कि अगर आपको शास्त्र पढना नहीं आता तो कम से कम णमोकारमन्त्र तो आप भी जानते हैं? आप उसका जाप और आवर्त्तन वगैरह करें। णमोकारमत्र का आवर्त्तन करना भी स्वाध्याय ही है । अन्य लोगो के कथनानुसार वेदाध्ययन या ओकार का जाप करना स्वाध्याय है । इसी प्रकार आप यह समझें कि द्वादशाग रूप जिन-वाणी का पठन–पाठन करना या णमोकारमत्र का जाप करना भी स्वाध्याय है । अगर आप शास्त्र का स्वाध्याय नही कर सकते तो णमोकारमत्र का जाप रूप स्वाध्याय करें । इससे भी कल्याण होगा ।

शास्त्र मे स्वध्याय नन्दन वन के समान वतलाया गया है । जो पुरुप स्वाध्याय द्वारा नन्दन वन सरीखा आनन्द लेता होगा वह दूसरी झझटो मे नही पडगा । मनुष्य

जब व्यग्र हो जाता है तब व्यग्रता दूर करने के लिए बाग का आश्रय लेता है। इसी प्रकार ससार के प्रपचों से घब-राने वाला स्वाध्याय का ही शरण लेगा और फिर दूसरे प्रपचो में नही पडेगा। अगर आप व्यर्थ के प्रपचो में पडना छोड़ स्वाध्याय का आनन्द ले तो आपको मालूम हो कि स्वाध्याय मे कैसा आनन्द है। पुरुषो की अपेक्षा बहिनों को इस ओर अधिक ध्यान देना चाहिए, क्योकि उनकी आदत व्यर्थ के प्रपचो मे पडने की ज्यादा होती है, ऐसा देखा जाता है। बहिने अगर ऐसे प्रपंचो में पड़ना छोड़ दें तो वे पुरुषो का भी सुधार कर सकती हैं। अतएव बहिनें सांसारिक प्रपचो में न पड़कर परमात्मा के भजन रूप स्वाध्याय से आनन्दित रहे तो वे अपना और पराया अकल्याण रोक सकती हैं और कल्याण-मार्ग में प्रवृत्त हो सकती हैं।

उन्नीसवां बोल

वाचना

स्वाध्याय भी परमात्मा की प्रार्थना करने का एक साधन है। पिछले प्रकरण मे स्वाध्याय के पाच भेद बतलाये गये हैं। अब शास्त्रकार स्वाध्याय के प्रत्येक भेद पर विचार करते हैं। स्वाध्याय से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय पर समुच्चय रूप मे विचार किया जा चुका है। परन्तु इस प्रकार सामान्य रूप से कही हुई बात कभी-कभी साधारण लोगो की समझ में नही आती। इसी कारण स्वाध्याय के प्रत्येक भेद के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार किया जाता है। मनुष्य कहने से सभी मनुष्यो का समावेश हो जाता है, फिर चाहे वह राजा हो, रक हो, गरीब या अमीर हो, ब्राह्मण हो या शूद्र हो। लेकिन साधारण लोग मनुष्य कहने मात्र से मनुष्य के सब भेदो को नही समझ सकते। उन्हे मनुष्य के भेद समझाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद स्पष्ट करके समझाने पडते हैं। इसी प्रकार स्वाध्याय के सम्बन्ध मे समुच्चय रूप से विवेचन किया गया है, मगर वह विवेचन साधारण लोग नहीं समझ सकते। इस विचार से स्वाध्याय के भेद करके प्रत्येक भेद के विषय

में भगवान् से प्रश्न किया गया है । स्वाध्याय का पहला भेद वाचना है । अतएव सर्वप्रथम वाचना के विषय मे भगवान् से यह प्रश्न किया गया है—

मूलपाठ

प्रश्न—वायणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वायणयाए णं निज्जरं जणयइ, सुअस्स अणासायणाए (अणुसज्जणाए) वट्टइ, सुअस्स य अणासायणाए (अणुसज्जणाए) वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलंबइ, तित्थमवलंबमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे हवइ ।

शब्दार्थ

प्रश्न— हे भगवन् ! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— शास्त्र की वाचना से कर्म की निर्जरा होती है । सूत्र-प्रेम होने से ज्ञान मे वृद्धि होती है और ऐसे सूत्र-प्रेम से तीर्थङ्करो के धर्म का अवलम्बन मिलता है । तीर्थङ्करो के धर्म का अवलम्बन मिलने से कर्म की महान् निर्जरा होती है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है ।

व्याख्यान

वाचना के विषय में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना चाहिए कि वाचना का अर्थ क्या है? वाचना लेने के योग्य शिष्य को गुरु सिद्धान्त का जो वाचन कराता है, उसे वाचना कहते हैं । वाचना का अर्थ सुगम

करने के लिए टीकाकार कहते हैं कि गुरु उपदेशक या प्रयोजक होकर शिष्य को शास्त्र पढाता है। यही शास्त्र पढाने की क्रिया वाचना कहलाती है।

वाचना लेने वाला शिष्य तो सुपात्र होना ही चाहिए, लेकिन वाचना देने वाले गुरु में क्या गुण होने चाहिए, यह विचार लेना आवश्यक है। वाचना देने वाला अच्छा हो तो वाचना लेने वाले और देने वाले – दोनो को ही लाभ होता है। भगवान् से वाचना के विषय मे यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन्! वाचना देने वाले को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने पहली बात यह कही है कि वाचना देने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है।

सामान्यरूप मे तो निर्जरा, मन, वचन और काय—इन तीनो से होती है परन्तु यहा मन द्वारा निर्जरा होने की प्रधानता जान पडती है, क्योंकि वाचना देने में मन को एकाग्र रखना पडता है। कहा भी है –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् – मन ही मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार मन को बन्ध और मोक्ष का कारण बतला कर वाचना देने वाले को यह सूचित कर दिया है कि वाचना देने वाले को ऐसा नही मानना चाहिए कि मैं शिष्य को वाचना दे रहा हू, या मैं शिष्य को पढा रहा हू वरन् ऐसा समझना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना देकर अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हूं। ऐसा मानकर शिष्य को सूत्र की वाचना देने मे वाचना देने वाले को अत्यन्त आनन्द होता है, यही नही उसमे कायरता नही आती और साथ ही

उसका उत्साह भी भा नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस स्थिति मे सूत्रवाचना देने के कार्य को वह दूसरे का कार्य नही समझेगा बल्कि अपना ही कार्य समझेगा और अपने, अपने लाभ के कार्य मे जैसा आनन्द और उत्साह रहता है वैसा आनन्द और उत्साह दूसरे के कार्य मे नहीं रहता। उदाहरणार्थ -एक काम आपका नौकर करता है और दूसरा काम आपका पुत्र करता है। इन दोनो मे से आपके पुत्र के मन मे काम करते समय जैसा उत्साह होगा वैसा उत्साह नौकर के मन मे नही होगा, यह स्वाभाविक है। ऐसा होने का कारण भावना की भिन्नता है। नौकर की भावना तो यही होती है कि यह पराया काम है। पुत्र उसे अपना ही काम समझता है। इस प्रकार भावना मे अन्तर होने से उत्साह मे भी अन्तर पड जाता है। उत्साह होने से कार्य अच्छा होता है, उत्साह के अभाव मे वैसा नही होता।

कहने का आशय यह है कि जैसे दूसरो के कामो को अपने ही काम मानने से उन्हे करने मे उत्साह अधिक रहता है, उसी प्रकार वाचना देने के कार्य को अपना ही समझने से आत्मा मे उत्साह आता है। इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि वाचना देने का कार्य अपना ही समझना चाहिए।

सद्गुरु जैसी शिक्षा दे सकता है वैसी शिक्षा भाडे का शिक्षक नही दे सकता। सद्गुरु की शिक्षा हृदय मे जैसी पैठ जाती है, भाडे के शिक्षक की वैसी नही पैठ सकती। वैज्ञानिको का कथन है कि छोटी उम्र के बालको के हृदय मे माता-पिता की शिक्षा के जैसे सस्कार पडते हैं, वैसे सस्कार बड़े होने पर नही पड सकते। अगर माता-पिता सुसस्कारी हो तो बालको के अन्त करण मे शिक्षा के अच्छे

संस्कार अंकित कर सकते है । इसी प्रकार गुरु अगर सुसंस्कारी हो और वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य माने और यह समझे कि शिष्य मेरे कर्मों की निर्जरा करने का साधन है, अत वह मेरा उलटा उपकारी है, तो गुरु द्वारा दी हुई वाचना शिष्य के हृदय मे स्थान बनाये विना नही रह सकती । ऐसा समझकर शिष्य को वाचना देने वाला महात्मा धन्यवाद का पात्र है ।

भगवान् ने कहा है– वाचना देने से एक तो कर्मों की निर्जरा होती है और साथ ही साथ सूत्र को अनासातना और अनुसृजना होती है अर्थात् सूत्र को परम्परा जारी रहती है सूत्र का ज्ञाता अगर दूसरे को सूत्र का ज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान विच्छिन्न हो जाये । इसके विरुद्ध एक दूसरे को सूत्र का ज्ञान देने से सूत्र की परम्परा चालू रहती है । जो पुरुष सूत्र का ज्ञाता होने पर भी दूसरे को सूत्र का ज्ञान नही देता वह सूत्र की आसातना करता है, अतएव दूसरे को सूत्रवाचना देते रहने से सूत्र की अनासातना भी होती है और वाचना देने व लेने के द्वारा सूत्र की सृजना भी होती है । किसान बीज बोने के बदले अगर बीज को भी खा जाये तो अन्न की परम्परा आगे तक कैसे चल सकती है ? इसी प्रकार सूत्र का जानकार अगर दूसरे को सूत्रज्ञान न दे तो सूत्रज्ञान की परम्परा किस प्रकार चल सकती है? जैसे किसान अन्न मे से बीज अलग रख छोडता है और शेष अन्न खाता है, उसी प्रकार स्वयं सूत्र का लाभ लेकर दूसरे को भी वाचना देनी चाहिए, जिससे कि सूत्र की परम्परा बराबर चालू बनी रहे ।

इसके अतिरिक्त भगवान् कहते है कि सूत्रवाचना

देकर सूत्र की अनासातना और मृजना करने वाला तीर्थधर्म का पालन करत है। यहाँ तोथधम का मतलब गणधर के आचार से है। सूत्र का कथन तीर्थङ्कर करते हैं मगर तद-नुसार सूत्र की रचना करने वाले ओर उसकी परम्परा चलाने वाले गणधर हैं। जिस प्रकार गणधर सूत्रो को पर-परा चलाते हैं उसी प्रकार वाचना देने वाला भी सूत्रो का परम्परा चालू रखता है। इस कारण वह गणधर के आचार का अवलबन करता है—गणधर का कार्य करता है।

गणधरो ने सूत्र की रचना की अगर वह सूत्र अपने ही पास रख छोडते और दूसरो को वाचना न देते तो क्या आज सूत्र विद्यमान रहते? मगर गणधर कितने उदार थे! उन्होने सूत्रो का रचना की अपने पास नही रख छोडा, अपितु शिष्यो को उनकी वाचना दी गणधरो द्वारा चलाई हुई वाचना की पद्धति का पालन आचार्य भी करते रहे और इसी के फलस्वरूप आज हमारे लिए सूत्र उपलब्ध है। अगर आगे इस पद्धति का पालन न किया जाये तो सूत्र का उच्छेद हो जायेगा। अतएव अपने पास जो सूत्र हैं उनकी वाचना योग्य शिष्य को देनी चाहिए। सूत्र की वाचना देना भी तीर्थधर्म है। अर्थात् वाचना देना गणधर के धर्म का अवलम्बन करना है।

कल्पना कीजिए, एक नई मोटर तैयार कराई गई है, मगर उसे चलाने वाला कोई ड्राइवर नही है। अगर कोई मोटर न चला सकने वाला उसे चलाने का प्रयत्न करेगा तो सम्भव है वह किसी गड्ढे में गिरा देगा। इसी कारण मोटर चलाना न जानने वाले को सरकार मोटर चलाने की आज्ञा नही देती। मोटर का तो दृष्टान्त ही समझिए।

मेरी मान्यता तो यह है कि मोटर चलने से लाभ के बदले हानि ही हुई है। मगर इस दृष्टान्त द्वारा मैं यह बतलाना चाहता हूं कि जैसे ड्राइवर होने पर ही मोटर का उपयोग हो सकता है । ड्राइवर के अभाव मे मोटर बेकार पडी रहती है। इसी प्रकार शास्त्ररूपी मोटर चलाने वाला अर्थात् वाचना देने वाला कुशल और सस्कारी गुरु न हो तो शास्त्र-रूपी मोटर गड्ढे मे गिर जाये और उसका परिणाम भयकर हो, यह स्वाभाविक ही है । अतएव जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाते समय सावधान रहता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाले गुरु को भी वाचना देते समय पूरी पूरी सावधानी रखनी चाहिए । अगर कुशल ड्राइवर की तरह वाचना देने वाला गुरु कुशल और सस्कारी हो तो शास्त्ररूपी मोटर ठीक चल सकती है ।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार ड्राइवर मोटर चलाने मे सहायक कहा जा सकता है, उसी प्रकार सूत्र की वाचना देने वाला भी गणधर के धर्म का अवलम्बन करने वाला हैं अर्थात् सूत्र की वाचना देने वाला भी तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है ।

इससे आगे भगवान् कहते हैं तीर्थधर्म का अवलबन लेने वाले को महान् निर्जरा होती है। दूसरे महान् तप से भी जो निर्जरा नही हो सकती, वह निर्जरा स्वाध्याय अर्थात् वाचनारूप तप से होती है । वाचना देना और स्वाध्याय करना भी एक प्रकार का तप है । महान् निर्जरा करने वाला मोक्ष प्राप्त करता है । महान् निर्जरा मोक्षप्राप्ति का एक मार्ग है। वाचना देने वाले को, वाचना देते समय सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मैं सूत्र की वाचना

देकर महान् निर्जरा का कार्य कर रहा हूं और मोक्षप्राप्ति का कार्य कर रहा हू। ऐसा समझकर वाचना देने के कार्य को अपना ही कार्य मानना चाहिए।

वाचना देते समय कितनी सावधानी रखनी चाहिए और क्या समझना चाहिए, यह बात पहले कही जा चुकी है। मगर वाचना लेने वाले को वाचना लेते समय कितनी सावधानी रखनी उचित है और उस समय उसका कर्त्तव्य क्या है, इस सम्बन्ध मे कहा गया है :-

पर्यस्तिकामवष्टम्भं, तथा पादप्रसारणम।
वर्जयेद्विकथा हास्यमधीयन् गुरुसन्निधौ ॥

वाचना देने वाले गुरु के सन्निकट वाचना लेने वाले शिष्य को कैसी सावधानी रखनी चाहिए, यह बात इस गाथा मे बतलाई गई है। इसमे कहा है— वाचना देने वाले गुरु के समक्ष शिष्य को अकडकर या हाथ बांध करके नही बैठना चाहिए, पैर फैलाकर नही बैठना चाहिए और विकथा तथा हँसी-मजाक नही करना चाहिए। वाचना लेने वाला शिष्य इन सब अवगुणों का परित्याग कर दे।

अपने यहा वाचना लेने-देने मे अत्यन्त अन्तर आ गया है। जैसे—आजकल कितनेक लोग ऐसा मानते है कि सिद्धान्त की वाचना देते समय पास मे घी का दीपक होना चाहिए। मगर जब सिद्धान्त से भाव-प्रकाश लेना है तो वहा द्रव्य-प्रकाश की आवश्यकता ही क्या है? इसके अतिरिक्त दीपक जलाना सावद्य है और शास्त्र निरवद्य है। ऐसी स्थिति मे निरवद्य शास्त्र की वाचना लेते समय सावद्य दीपक की क्या आवश्यकता है? शास्त्र भावरूप वस्तु है।

उसकी भाव–पूजा ही हो सकती है। उसकी द्रव्य–पूजा की आवश्यकता नही है।

अब यह भी विचारना चाहिए कि शास्त्र सुनते समय किस प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए? प्राय. देखा जाता है कि शास्त्र की वाचना के समय कुछ लोग दोनो हाथ बाध करके ऐसे बैठ रहते है मानो शास्त्र श्रवण करना कोई काम ही नही है। ऐसे लोगो के हृदय मे शास्त्र का रहस्य कैसे उतर सकता है? एक आदमी सावधान होकर शास्त्र सुनता है और दूसरा बेदरकारी के साथ सुनता है। इन दोनो के शास्त्र–श्रवण मे कितना अन्तर है, यह बात बकरी और भैस के पानी पीने के उदाहरण से समझी जा सकती है। बकरी भी पानी पीती है और भैस भी पीती है। मगर दोनो के पीने मे कितना अन्तर है? भैस निर्मल जल को भी गँदला करके पीती है जब कि बकरी निर्मल जल ही पीती है। वह गँदला जल नही पीती। शास्त्र-श्रवण करने वाले भी दो प्रकार के हैं। कुछ लोग बकरी के समान निर्मल शास्त्र-श्रवण का रसपान करते है और कुछ लोग भैस की भाति शास्त्र-श्रवण को मलीन करके रसपान करते हैं। जो लोग सावधानी के साथ शास्त्र का श्रवण करते हैं, वे महान् निर्जरा का कार्य करते हैं। अतएव शास्त्र सुनने मे पूरी-पूरी सावधानी रखनी चाहिए।

बीसवाँ बोल

प्रतिपृच्छना

आत्मा के ऊपर अनादिकाल से जो आवरण चढे हैं, उन्हें दूर करने का एक उपाय स्वाध्याय भी है। स्वाध्याय के पाच भेदो मे से वाचना के विषय मे कहा जा चुका है। वाचना के पश्चात् प्रतिपृच्छना सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है। आगम का जो पठन-पाठन किया गया हो उसे उसी रूप मे न रखते हुए उसके सम्बन्ध मे विचारविनिमय करना और हृदय मे उठी हुई शका के विषय मे पूछताछ करना प्रतिपृच्छना है। प्रतिपृच्छना के विषय मे प्रश्न करके यह सूचना दी गई है कि जिस कथन मे किसी प्रकार की गडबड होती है अथवा जो अपने कथन का पूर्ण रहस्य नही जानता उसे सदैव यह भय बना रहता है कि अगर मेरे कथन के विषय मे कोई व्यक्ति कोई प्रश्न करेगा तो मैं क्या उत्तर दूगा ? इस तरह जिसके कथन मे किसी प्रकार की पोल या गडबडी होती है, उसके कथन के विषय में अगर कोई पूछताछ की जाये तो उसे भय होता है। किन्तु जैनशास्त्र में किसी प्रकार की पोल या गडबड नही है। यही बतलाने के लिए कहा गया है कि, जिस सूत्र की वाचना ली गई है,

उसके विषय में प्रतिपृच्छना अर्थात् पूछताछ या विचार-विनिमय करना चाहिए ।

कोई मनुष्य किसी को खोटा सोना दे तो वह लेने वाले से यही कहेगा कि यह सोना किसी को बतलाना नही, चुपचाप घर ही ले जाना । हा, सच्चा सोना देने वाला ऐसा नही कहेगा । वह कहेगा यह सोना सच्चा है या नही, इस बात की जाँच चाहे जहाँ कर लेना । इसी प्रकार अगर जैनसिद्धान्त मे कही पोल या गडबड होती तो विचारविनिमय या पूछताछ करने की बात नही कही होती । मगर जैनसिद्धांत मे किसी प्रकार की पोल या गडबड नही है, इसीलिए कहा गया है कि—ली हुई सूत्रवाचना मे जो कुछ पूछना हो वह पूछो । इस प्रकार प्रतिपृच्छना करने से अत्यन्त लाभ होता है, यह भी बतलाया गया है । जो सूत्र-वाचना ली गई है उसके विषय मे पूछताछ करने से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न किया गया—

मूलपाठ

प्रश्न – पडिपुच्छणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर – पडिपुच्छणयाए ण सुत्तत्थतदुभयाइ विसोहेइ, कंखामोहणिज्जं कम्मं वुच्छिदइ ॥

शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! प्रतिपृच्छना से अर्थात् शास्त्रचर्चा से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— प्रतिपृच्छना से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का

विशोधन होता और इससे जीव कांक्षमोहनीय कर्म को छेद डालता है ।

व्याख्यान

गुरु के सन्निकट ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध मे गुरु से वारम्वार पूछताछ करना या शास्त्रचर्चा अथवा विचारविनिमय करना प्रतिपृच्छना है । शास्त्र और गुरु का कहना है कि ली हुई शास्त्रवाचना के सम्बन्ध मे पूछताछ करनी चाहिए । इस प्रकार की प्रतिपृच्छना या शास्त्रचर्चा करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उतर मे भगवान् ने कहा है–प्रतिपृच्छना करने से सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की विशुद्धि होती है । जो कोई जिज्ञासु प्रतिपृच्छना करता है वह सूत्र और उसके अर्थ के विषय में थोड़ा जानकार होता ही है । अगर वह एकदम अनजान हो तो सूत्र या उसके अर्थ के सम्बन्ध में क्या चर्चा करेगा ! अत अगर कोई सूत्र के विषय मे या अर्थ के विषय मे कुछ कुछ जानकार हो तभी वह प्रतिपृच्छना कर सकता है । गुरु से बारबार उस विषय में पूछताछ करने से, वह जो थोडा-सा जानता है, उसकी विशुद्धि होती है ।

अर्थहीन सूत्र और सूत्रहीन अर्थ एक प्रकार से व्यर्थ माना जाता है । सूत्र का महत्व अर्थ से है और अर्थ का महत्व सूत्र से है । सूत्र उच्चारण रूप होता है और अर्थ उस उच्चारण रूप सूत्र में रही हुई विशेष वस्तु को प्रकट करता है अर्थात् सूत्र का महत्व प्रकट करता है ।

सूत्र किसे कहते हैं ? इस विषय में टीकाकार कहते हैं–जिन थोड़े अक्षरो मे वहुत अर्थगाभीर्य समाया हो, उन

अर्थगाभीर्य वाले थोड़े अक्षरो को सूत्र कहते हैं। सूत्र, अर्थ की रक्षा करने के लिए ही होता है। प्रत्येक वस्तु पात्र में ही टीक सकती है। अगर साधन या पात्र न हो तो वस्तु का टिकाव नही हो सकता। तिजोरी हो मगर धन न हो तो तिजोरी किस काम की? इसी प्रकार धन हो पर तिजोरी न हो तो धन की रक्षा किस प्रकार हो सकती है? ठीक इसी तरह अर्थ के अभाव मे सूत्र किस काम का? और सूत्र न हो तो अर्थ किस काम का? सूत्र, अर्थ की और अर्थ, सूत्र की रक्षा करता है। सूत्र से ही अर्थ की रक्षा होती है और अर्थ होने के कारण ही सूत्र का महत्व है। इस प्रकार सूत्र और अथ दोनो की आवश्यकता है।

शरीर हो मगर आत्मा उसमे न हो तो शरीर किस काम का? क्या मृत शरीर को भी कोई औषध देता है? इसी प्रकार शरीर-रहित आत्मा को भी दवाई दी जा सकती है? ससारी जीव का आधार शरीर है और शरीर की स्थिति जीव पर टिकी है। जिस प्रकार जीव और शरीर दोनो की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूत्र और अर्थ की भी आवश्यकता है। जैसे शरीर का महत्व उसमे रहने वाले जीव के कारण ही है उसी प्रकार सूत्र का महत्व भी अर्थ होने के ही कारण है। अर्थ के अभाव मे सूत्र व्यर्थ है। भगवान् ने कहा है—प्रतिपृच्छना करने से सूत्र और उसके अर्थ की विशुद्धि होती है।

धन की रक्षा के लिए तिजोरी की मजबूती और जीव को आश्रय देने के लिए शरीर की स्वस्थता होना आवश्यक समझा जाता है। इसी तरह शास्त्र के कथनानुसार सूत्र

और अर्थ के विषय में प्रतिपृच्छना करके उसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है । इसके सिवाय सूत्र और अर्थ हीनाक्षर आदि दोषो से रहित होने चाहिए । वास्तविक सूत्र हीनाक्षर या निरर्थक शब्दों वाले नही होते । हीनाक्षर या निरर्थक शब्द होना सूत्र दोष है । सूत्र का प्रत्येक अक्षर सार्थक और शुद्ध होना चाहिए ।

कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार वारम्वार शरीर की सार-सँभाल की जाती है उसी प्रकार सूत्रवाचना के विषय मे भी वार-वार पूछताछ करना चाहिए और जिस सूत्र की वाचना ली गई हो उसकी भी सँभाल रखनी चाहिए । सूत्र की भलीभाति सँभाल रखने से और सूत्र के सम्वन्ध मे वार-वार पृच्छना करने से सूत्र और अर्थ की विशुद्धि होती है और साथ ही साथ काक्षामोहनीय कर्म का नाश भी होता है ।

यहा काक्षा का अर्थ है–सदेह । 'यह तत्व ऐसा है या नही' अथवा 'यह सत्य है या असत्य' इस प्रकार का सदेह उत्पन्न होना मोह का प्रताप है । अनभिग्रहीत मिथ्यात्व ऐसा होता है कि वह जीव को मालूम नही होने देता । मगर ज्ञानीजन कहते हैं कि यह मोह का ही प्रताप है । वार-वार पूछताछ करने से काक्षामोहनीय कर्म नष्ट होता है और 'यह तत्त्व ऐसा ही है' या 'यह वात ऐसी ही है' इस प्रकार की दृढता उत्पन्न होती है ।

किसी वात का निश्चय न होने से अत्यन्त हानि होती है और निश्चय हो जाने मे अतीव लाभ होता है । मान लीजिए, कुछ मनुष्य जगल में जा रहे है । उन्होने वहा सीप

का टुकडा देखा । एक ने समझा—यह चादी है। तब दूसरे ने कहा—जगल मे चादी कहा से आई ? वह सीप होनी चाहिए । इस प्रकार दोनो के अक्षरो मे और अथ मे भेद पड गया । बात सदिग्ध ही बनी रही । वह वास्तव मे चादी है या सीप; ऐसा निर्णय नही हुआ । निर्णय न होने से वे दोनो सदेह मे रहे । अगर दूसरा कोई उनसे पूछेगा कि वहाँ चादी है या सीप ? तो वे निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नही कह सकेगे । उन्होने निश्चय कर लिया होता तो वे स्वय सदेह मे न रहते और दूसरो को भी सदेह मे न डालते !

किसी भी वस्तु में सदेह रखने और निश्चय न कर लेने से विचार मे ऐसा अन्तर पड जाता है। सभी विद्याओ मे यह बात लागू पडती है । पढे और गुने मे कितना अतर होता है, यह तो आप जानते ही हैं । कहावत प्रसिद्ध है—'पढा है पर गुना नही ।' सूत्र की वाचना पढने और गुनने के विषय मे भी ऐसा ही अन्तर पड जाता है। एक आदमी ने सूत्र तो पढा है किन्तु सूत्र के सम्बन्ध मे उत्पन्न हुए सशय का निवारण नही किया है और दूसरे मनुष्य ने सूत्र-वाचना लेकर अपना सशय निवारण कर लिया है । एक मनुष्य सूत्र वाचकर सदिग्ध रहता है और दूसरा सूत्र को वाँचकर सूत्र और अर्थ के विषय मे पूछताछ करके सदेह-रहित हो जाता है । इस प्रकार दोनो के बीच बहुत अन्तर है ।

दूसरे लोग अपने सिद्धान्त की बात कदाचित चुपके से बतलाते हो पर जैनशास्त्र कहता है कि सूत्रसिद्धान्त की

बात चुपके चुपके बताना उचित नही । अतएव आपको जो कुछ भी बतलाया जाये उसके विषय मे बार-बार पूछताछ करो और जो कोई शका हो उसका समाधान प्राप्त करो। बहुत बार अनुचित शकाए भी उठती है, लेकिन शका उत्पन्न हो जाने पर भी शंका मे ही पड़ा रहना ठीक नही है। शकाए निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए अतएव सूत्र की जो वाचना ली हो उसके सम्बन्ध मे बार-बार पूछताछ करनी चाहिए । कोई भी बात किसी विशेषज्ञ से ही पूछी जाती है । इसलिए अपने से अधिक जानकार के कथन पर विश्वास रखकर उससे शका का समाधान प्राप्त करना चाहिए । विशेषज्ञ के कथन पर विश्वास रखा ही जाता है। शरीर के विषय में आप किसी डाक्टर से ही प्रश्न करेगे। अगर डाक्टर शरीर को रोगी कहेगा तो उसके कथन पर आप विश्वास करेगे और उसकी सलाह मानेंगे। इसी प्रकार अपने से अधिक ज्ञानी के कथन पर विश्वास किया ही जाता है। वस्तु के परीक्षक सब लोग नही होते, थोड़े ही होते हैं। परन्तु जो लोग वस्तु के परीक्षक नही हैं वे परीक्षक के कथन पर विश्वास रखकर ही वस्तु ग्रहण करते है। रत्न के परीक्षक सब नही होते मगर रत्न का संग्रह कौन नही करना चाहता ? सभी लोग रत्नो का संग्रह करना चाहते है, परन्तु स्वय परीक्षक न होने के कारण रत्नपरीक्षक के कथन पर ही उन्हे विश्वास रखना पड़ता है।

जब सभी कार्यों में अपने से विशेष जानकार के कथन पर विश्वास किया जाता है तब धर्म की बात पर भी विश्वास क्यो न किया जाये ? धर्म की बात मे भी अपने

से विशेष ज्ञानी के कथन पर विश्वास रखने की आवश्यकता है। मगर धर्म के विषय मे प्राय. ऐसा होता है कि शका होने पर पूछताछ नही की जाती और हृदय में शका को स्थान दिया ज ता है। कुछ लोगो का यहा तक कहना है कि अपने सामने जो भी कुछ आवे, खा जाना चाहिए। इस प्रकार देखे–भाले विना पशु की तरह किसी भी वस्तु को डकार जाना उचित नही है। खाने मे कभी कोई अयोग्य वस्तु आ जाये तो कितनी अधिक हानि होने की सभावना हो सकती है? इसी प्रकार चाहे जो बात विना सोचे-विचारे मान बैठना भी अनुचित है। किसी से पूछे–ताछे विना चाहे जिसे साधु मान लेना भी हानिकर है। अगर कोई नया साधु आवे तो उससे पूछना चाहिए कि आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? आपका आचार क्या है? और आपका उद्देश्य क्या है? जैनशास्त्र प्रेरणा करते हैं कि किसी भी बात को विना विचारे नही मान लेना चाहिए बल्कि पूछताछ के पश्चात् उचित प्रतीत होने पर ही मानना चाहिए।

प्रतिपृच्छना का अर्थ सदा शकाशील ही बना रहना नही है, बल्कि जो शका उत्पन्न हुई हो उसका समाधान करने के लिए बार–बार प्रश्न करना चाहिए और हृदय की शका का समाधान कर लेना चाहिए। इस तरह विचार–विनिमय या शास्त्रचर्चा करके हृदय की शका का समाधान कर लिया जाय तो कहा जा सकता है कि इसने प्रतिपृच्छना की है। अगर ऐसा न किया जाये तो यही कहा जायेगा कि या तो पूछने वाले के पूछने मे अथवा बताने वाले के बताने में कोई त्रुटि है या दोनो की समझ मे कोई कमी

है। मान लीजिए, एक वैद्य ने किसी रोगी को दवा दी। फिर भी रोग दूर न हुआ तो यही कहा जायेगा कि या तो दवा देने वाले में कोई त्रुटि है या दवा लेने वाले ने दवा का भलीभांति सेवन नहीं किया, अथवा दी हुई दवा ही ठीक नहीं है। इसी प्रकार प्रतिपृच्छना का फल शंका-कांक्षा से निवृत्त होना है। अगर शंका दूर हो गई तो समझना चाहिए कि प्रतिपृच्छना ठीक की गई है।

आत्मा महान् है। कर्मरहित होने से ही आत्मा परमात्मा बनेगा। इसलिए आत्मा को शंकाशील न बनाते हुए पूछताछ करके निःशंक बनना चाहिए। जिज्ञासा करके शंका का समाधान कर लेना कोई बुराई नहीं है, परन्तु केवल कुतूहलवृत्ति से शंकाएं करके अपने आपको शंकाशील बनाना अच्छा नहीं है।

जिज्ञासापूर्वक शंका करना एक प्रकार से अच्छा ही है और कुतूहलवृत्ति से संशय करना ठीक नहीं। कहा भी है-

'संशयात्मा विनश्यति।'

अर्थात्- संशयात्मा पुरुष 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की तरह विनाश का पात्र बनता है। शास्त्र में अनेक स्थलों पर गौतम स्वामी के लिए 'जायसंसए' कहा गया है अर्थात् गौतम स्वामी को संदेह उत्पन्न हुआ, यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में संशय होना अच्छा है या बुरा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शंका को शंका के रूप में ही रखना तो दोष है, लेकिन उसका समाधान कर लेना गुण है। जानकारी प्राप्त करने के लिए शंका करना छद्मस्थ के लिए आवश्यक है। शंका किये बिना अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त हो

सकेगा । जिज्ञासा ज्ञानोपार्जन का एक उपाय है । आज विज्ञान का जो आधिपत्य दिखाई देता है, उसका आविष्कार शका-जिज्ञासा से ही हुआ है । अलबत्ता व्यर्थ की शंकाए करना और सदा शकाशील बने रहना ठीक नही । इससे लाभ के बदले हानि ही होती है । अतएव हृदय मे जो शंका उत्पन्न हो उसे प्रश्न करके या शास्त्रचर्चा करके निवारण कर लेना चाहिए । इस प्रकार प्रतिपृच्छना या शास्त्र-चर्चा करने से हृदय की शंकाओ का समाधान होता है और आत्मा निःशंक बनता है । आत्मा जब निःशक बनता है तभी उसका कल्याण होता है ।

है। मान लीजिए, एक वैद्य ने किसी रोगी को दवा दी। फिर भी रोग दूर न हुआ तो यही कहा जायेगा कि या तो दवा देने वाले मे कोई त्रुटि है या दवा लेने वाले ने दवा का भलीभाँति सेवन नही किया, अथवा दी हुई दवा ही ठीक नही है। इसी प्रकार प्रतिपृच्छना का फल शका-काक्षा से निवृत्त होना है। अगर शका दूर हो गई तो समझना चाहिए कि प्रतिपृच्छना ठीक की गई है।

आत्मा महान् है। कर्मरहित होने से ही आत्मा परमात्मा बनेगा। इसलिए आत्मा को शकाशील न बनाते हुए पूछताछ करके नि शक बनना चाहिए। जिज्ञासा करके शका का समाधान कर लेना कोई बुराई नही है, परन्तु केवल कुतूहलवृत्ति से शकाएं करके अपने आपको शकाशील बनाना अच्छा नही है।

जिज्ञासापूर्वक शंका करना एक प्रकार से अच्छा ही है और कुतूहलवृत्ति से सशय करना ठीक नही। कहा भी है–

'सशयात्मा विनश्यति।'

अर्थात्–सशयात्मा पुरुष 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' की तरह विनाश का पात्र बनता है। शास्त्र मे अनेक स्थलो पर गौतम स्वामी के लिए 'जायसंसए' कहा गया है अर्थात् गौतम स्वामी को सँदेह उत्पन्न हुआ, यह बतलाया गया है। ऐसी स्थिति मे सशय होना अच्छा है या बुरा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शका को शका के रूप में ही रखना तो दोष है, लेकिन उसका समाधान कर लेना गुण है। जानकारी प्राप्त करने के लिए शका करना छद्मस्थ के लिए आवश्यक है। शका किये विना अधिक ज्ञान नही प्राप्त हो

सकेगा । जिज्ञासा ज्ञानोपार्जन का एक उपाय है । आज विज्ञान का जो आधिपत्य दिखाई देता है, उसका आविष्कार शका–जिज्ञासा से ही हुआ है । अलबत्ता व्यर्थ की शकाए करना और सदा शकाशील बनें रहना ठीक नही । इससे लाभ के बदले हानि ही होती है । अतएव हृदय मे जो शका उत्पन्न हो उसे प्रश्न करके या शास्त्रचर्चा करके निवारण कर लेना चाहिए । इस प्रकार प्रतिपृच्छना या शास्त्र-चर्चा करने से हृदय की शकाओं का समाधान होता है और आत्मा नि:शक बनता है । आत्मा जब नि:शक बनता है तभी उसका कल्याण होता है ।